सभ्य मानव का इतिहास

लेखक

भगवत शरण उपाध्याय एम० ए०

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद बम्बई

प्रथम संस्करण १९५०

प्रकाशक--किताब महल ५६ ए ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक:--बी० एन० टंडन, बी० एस सी०, विशारद,
टंडन प्रिंटिंग वर्क्स, ५-ए, एलबर्ट रोड, प्रयाग।

आदमी को क्या हुआ है ?"... ... ... यह बूढ़ा हो गया है।

सिद्धार्थ को बात फिर भी पूरी तरह समझ नहीं आई। उसने पूछा : "बूढ़ा क्यों हो गया है ?" इतना सरल और इतना कठिन प्रश्न और कोई हो नहीं सकता।

सारथि ने कहा : "कुमार, यह संसार का नियम है। प्राणी पहले पैदा होते हैं, फिर जवान होते हैं और फिर बूढ़े हो जाते हैं। इसमें कोई क्या कर सकता है ?"

सिद्धार्थ ने सुन लिया। आगे बहस नहीं की। परन्तु यह बात उनके मन में गहरी जम गई कि संसार के सब प्राणी बूढ़े हो जाते हैं उसी बूढ़े के सदृश, जैसा उन्होंने अभी देखा था। उनका भ्रमण का उत्साह जाता रहा और वह उदास होकर घर की ओर लौट पड़े।

महाराज शुद्धोदन को भी पता चला। उन्होंने पुत्र का जी बहलाने के लिये और अधिक साधन जुटाने शुरू कर दिये।

जीवमात्र पर दया—

सिद्धार्थ को यद्यपि धनुर्विद्या का बहुत अच्छा अभ्यास था, किन्तु वह शिकार करने नहीं जाते थे। अकारण ही भोले-भाले पशुओं को मारते या चोट पहुँचाते, उनका चित्त दुःखी होता था। उनका एक चचेरा भाई था देवदत्त। उसे शिकार का बहुत शौक था। एक बार की बात है कि उसने एक उड़ते दुए हंस को तीर मारा। वह हंस घायल होकर भूमि पर आ गिरा। सिद्धार्थ पास ही बैठे थे। उन्होंने दौड़कर उस हंस को उठा लिया और बड़ी दया के साथ उसकी मरहम-पट्टी की। जब तक हंस घायल था, तब तक तो देवदत्त ने कुछ न कहा; पर जब हंस स्वस्थ होकर चलने-फिरने लगा, तो उसने दावा किया कि यह हंस मेरा है; अतः मुझे दिलवाया जाय। जब बात बढ़ते-बढ़ते न्यायाधीशों के पास पहुँची, तो उन्होंने दोनों का पक्ष सुनकर निर्णय दिया कि हंस सिद्धार्थ का ही है। देवदत्त ने तो हंस को मारने का यत्न किया था।

सिद्धार्थ ने उसे फिर जीवन-दान दिया है। हंस को पाकर सिद्धार्थ को तो बहुत प्रसन्नता हुई, किन्तु जब महाराज शुद्धोदन ने यह सब हाल सुना तो उन्हें आनन्द न हुआ। उन्हें लगा कि उनका पुत्र धीरे-धीरे वैराग्य की ओर बढ़ता जा रहा है।

पुत्र को वैराग्य से रोकने तथा सांसारिक कार्यों में लगाने के लिये महाराज शुद्धोदन ने सिद्धार्थ का विवाह एक सुन्दर राजकुमारी यशोधरा से कर दिया। यशोधरा सुन्दर तो थी ही, साथ ही गुणवती भी थी। उसे पाकर सिद्धार्थ कुछ दिन तक वैराग्य की बात भूले रहे। उनके एक पुत्र भी हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया। शुद्धोदन ने समझा कि अब सिद्धार्थ पूरी तरह गृहस्थ के बन्धनों में जकड़ गया है। अब वह विरक्त नही होगा। वह बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये।

एक दिन रथ पर भ्रमण के लिये जाते समय सिद्धार्थ को एक विचित्र दृश्य दिखाई दिया। कुछ लोगों ने एक आदमी को अर्थी पर लिटाया हुआ था। उसके ऊपर कपड़ा ढके वे उसे लिये जा रहे थे। अर्थी के साथ चलने वाले कुछ लोग रो रहे थे और कुछ बहुत उदास होकर चल रहे थे। सिद्धार्थ ने अपने सारथि से पूछा : "ये लोग इसे इस तरह उठाये क्यों ले जा रहे हैं ?" सारथि ने कहा : "कुमार ! यह मर गया है। ये लोग अन्त्येष्टि के लिये इसे श्मशान ले जा रहे हैं।"

"यह मर क्यों गया है ?" सिद्धार्थ ने प्रश्न किया। इस 'क्यों' ने ही अज्ञान की सारी ग्रंथियां खोली हैं।

"यह संसार का नियम है, कुमार। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है। इससे कोई बच नहीं सकता।"

सिद्धार्थ के हृदय में भारी तूफ़ान उठ खड़ा हुआ।" एक दिन सभी को मर जाना होगा ! मुझे भी मरना होगा ! पर इस मृत्यु से बचने का कोई तो उपाय होगा ?" उन्होंने रथ का मुँह फिर घर की ओर मोड़ देने की आज्ञा दी। जरा, रोग और मृत्यु से भरे हुए इस संसार

में व्यक्ति निश्चिन्त होकर सैर कैसे कर सकता है ?

सिद्धार्थ उदास और बेचैन होकर महल में लौट आये। उनकी उदासी पर उनकी पत्नी यशोधरा का भी ध्यान गया। उसने कारण पूछा भी, पर सिद्धार्थ ने कुछ बताया नहीं। वह विचार की गहराइयों में पहुँच रहे थे। मृत्यु से बचने का उपाय उन्हें ढूँढना होगा और उसमें यशोधरा कुछ भी सहायता नहीं कर सकती।

मृत्यु से बचने का उपाय ढूँढने के लिये उन्हें दूर-दूर जाना होगा। वन-वन भटकना होगा। शायद कोई बता सके। पर यह घर, यह पत्नी, और यह छोटा-सा प्यारा-बच्चा! इन सबको भी छोड़ जाना होगा। छोड़ कर गये बिना और कोई चारा नहीं! सिद्धार्थ ने घर को छोड़ने का निश्चय कर लिया।

महाभिनिष्क्रमण—

एक दिन रात के समय, जब महल के सब लोग गहरी नींद में सोये हुए थे, सिद्धार्थ ने अपने सारथि से अपना घोड़ा मंगवाया। घर छोड़ चलने से पहले एक बार यशोधरा को देखने गये। वह चुपचाप सोई हुई थी। बालक राहुल भी उसके पास ही पड़ा सो रहा था। सिद्धार्थ ने उन्हें देखा। मन में शायद एक क्षण के लिये मोह का भाव जागा भी, पर केवल क्षण भर के लिये। अगले ही क्षण वह विलीन हो गया। सिद्धार्थ शान्त मन से बाहर निकल आये। रातोंरात घोड़े पर सवार होकर वह काफी दूर निकल गये। उनका सारथि उनके साथ था। अगले दिन प्रातःकाल वह विश्राम के लिए रुके। उन्होंने तलवार से अपने केश काट डाले; साधुओं का वेश धारण कर लिया और घोड़ा देकर सारथि को वापस भेज दिया। सारथि ने जब लौटकर सारा हाल सुनाया, तो कपिलवस्तु में हाहाकार मच गया। सिद्धार्थ का यह गृहत्याग 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाता है।

अब सिद्धार्थ मोक्ष की खोज में चले। वह अनेक योगियों और

महात्माओं के पास गये; किन्तु जिस वस्तु की उन्हें चाह थी, वह उन्हें कहीं न मिली। अन्त में उन्होंने गया के पास एक बेलवन में जाकर कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। वह बिना कुछ खाये-पिये सर्दी-गर्मी और वर्षा का कष्ट सहने लगे। उनकी इस कठोर तपस्या से प्रभावित होकर पांच और साधु आकर उनके शिष्य बन गये। तपस्या करते-करते सिद्धार्थ का शरीर बहुत कृश हो गया, किन्तु फिर भी उन्हें ज्ञान-किरण दिखाई नहीं पड़ी। कुछ समय बाद उन्हें यह बात समझ आ गई कि इस प्रकार शरीर को कष्ट देने से कोई लाभ नहीं है। उन्होंने फिर खाना-पीना शुरू कर दिया। यह देख कर उन पांचों शिष्यों की श्रद्धा सिद्धार्थ पर से जाती रही। उन्होंने समझा कि यह तो तप से भ्रष्ट हो गया। वे सिद्धार्थ को छोड़कर चले गये।

एक दिन सिद्धार्थ कुछ तत्त्व-चिन्तन करते हुए एक बरगद के वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। उसी समय सुजाता नाम की एक युवती खीर से भरा हुआ एक थाली लेकर वहाँ आई। सुजाता ने पुत्र-प्राप्ति के लिए किसी देवता की मनौती की थी। अब पुत्र प्राप्त होने पर उस मनौती को पूरा करने के लिये खीर का थाल लेकर आई थी। जब उसने सिद्धार्थ को वहां बैठे देखा तो उसने समझा कि देवता सशरीर उसकी पूजा ग्रहण करने आये हैं। उसने खीर का थाल उनके सामने रख दिया। सिद्धार्थ ने पहले नदी पर जाकर स्नान किया। उसके बाद यथेच्छ खीर खाकर वह उसी पेड़ के नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। उनका दृढ़ संकल्प था कि अब तो ज्ञान प्राप्त करके ही यहाँ से उठूंगा। उस समाधि में ही उन्हे सत्य का ज्ञान हो गया। तब से वह 'बुद्ध' कहलाने लगे। बुद्ध का अर्थ है जिसे बोध हो चुका है।

बुद्ध का तत्त्व-ज्ञान—

बुद्ध को जिस तत्व का ज्ञान हुआ वह उनके चार आर्य सत्यों में वर्णित है। वे चार आर्य सत्य ये हैं: (१) संसार की सब वस्तुएँ क्षणिक

और दुःखरूप हैं। (२) सारे दुःख जीवन की तृष्णा या वासना के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिये दुःखों से मुक्ति पाने के लिए 'मैं जीऊं, चाहे बाकी संसार का कुछ भी होता हो' इस 'अहं' की भावना का नाश करना आवश्यक है। (३) जीवन की तृष्णा और उस तृष्णा से उत्पन्न होने वाले उपादानों का नाश होने से पुनर्जन्म नहीं होता और पुनर्जन्म न होने से जरा, व्याधि और मरण से भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। (४) इस जरा, व्याधि और मरण आदि दुःखों से रहित स्थिति का नाम 'निर्वाण' है। यही परम सुख की दशा है।

यही बुद्ध का ज्ञान था। इसका सारांश यह है कि संसार दुःखमय है और वह दुःख मनुष्य की अपने जीवन की तृष्णा या लालसा से उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य इस लालसा को नष्ट कर दे, तो वह निर्वाण की स्थिति में पहुंच सकता है।

धर्म-चक्रप्रवर्तन—

इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद बुद्ध इस ज्ञान का अमृत अन्य लोगों को पिलाने के लिए चले। पहले वह काशी गये। वहाँ उन्हें अपने वे पांच शिष्य मिले, जो उन्हें तपोभ्रष्ट समझ कर छोड़ आये थे। उन्हें बुद्ध ने अपने ज्ञान का उपदेश दिया। वे फिर उनके शिष्य बन गये। उन्हें साथ लेकर बुद्ध नगर-नगर और गाँव-गाँव उपदेश करते घूमने लगे। लोग उनका उपदेश सुनते और उनके शिष्य बन जाते। जो लोग बुद्ध के शिष्य बन जाते थे, वे संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। ये लोग भिक्षु कहलाते थे। बुद्ध के इस प्रचार-कार्य को ही बौद्ध ग्रन्थों में 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' कहा गया है।

बौद्ध-मत का प्रचार बहुत तेज़ी से होने लगा। अनेक राजा बौद्ध-मत में दीक्षित हो गये। एक बार घूमते-फिरते बुद्ध कपिलवस्तु भी पहुँचे। वहां पहुँचकर उन्होंने महाराज शुद्धोदन और यशोधरा को उपदेश दिया। यशोधरा भी बौद्ध-मत में दीक्षित हो गई।

बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये बुद्ध ने धर्म-संघ की स्थापना की। कुछ ही वर्षों में हजारों व्यक्ति संघ की शरण में आ गये। जगह-जगह बौद्ध विहारों और आरामों की स्थापना होने लगी। ४५ वर्ष तक बुद्ध इसी प्रकार देश के दूर-दूर भागों तक घूम-फिरकर अपने नये ज्ञान का प्रचार करते रहे।

बुद्ध ने अहिंसापालन पर बहुत ज़ोर दिया। उन दिनों कर्मकांडी ब्राह्मण यज्ञों में पशुबलि दिया करते थे। पशुबलि की यह प्रथा अपनी चरम-सीमा तक पहुंच चुकी थी। पुण्य ने पाप का रूप धारण कर लिया था। बुद्ध ने यज्ञों में होने वाली इस हिंसा का घोर विरोध किया और अहिंसा को ही सबसे बड़ा धर्म बताया। 'प्राणिमात्र पर करुणा' यह बौद्ध-धर्म का सार था।

पहले बुद्ध ने संघ में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध रखा था, परन्तु बाद में स्त्रियों को भी संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी गई। स्त्रियां भी बड़ी संख्या में भिक्षु बनने लगीं।

बुद्ध का निर्वाण—

बुद्ध की आयु काफी हो चुकी थी। उनका शरीर वृद्ध हो चला था, फिर भी उनका प्रचार कार्य जारी था। एक दिन उन्होंने अपने एक भक्त चुन्द के यहां कुछ गरिष्ठ भोजन कर लिया, जिससे वह रोगी हो गये। उस रोग की दशा में ही वह कुसीनारा गये। कुसीनारा में एक बगीचे में उनका देहान्त हो गया। उस समय उनके अनेक प्रिय शिष्य उनके पास थे।

बुद्ध का शरीर नश्वर था, वह नष्ट हो गया, किन्तु उन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई थी, वह ज्यों-की-त्यों जलती रही। बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके धर्म का प्रचार और भी अधिक वेग से हुआ। जब सम्राट् प्रियदर्शी अशोक ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले ली, तब तो बौद्ध प्रचारक सिंहल, ब्रह्मदेश, काम्बोज, बाली, चीन, जापान आदि देशों तक गये और

वहां के लोगों को अहिंसा, प्रेम और शान्ति का पवित्र संदेश सुनाया।

बुद्ध की करुणा, अहिंसा और प्रेम की संसार को आज उसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक आवश्यकता है, जितनी बुद्ध के काल में थी। दो विश्व-युद्धों में भीषण रक्तपात और विनाश के पश्चात् संसार अब फिर प्रेम और अहिंसा की ओर झुक रहा है। इस युग में महात्मा गांधी ने भी उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनका प्रतिपादन गौतम बुद्ध आज से २५०० वर्ष पूर्व कर गये थे।

जगद्गुरु शंकराचार्य

'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ।'

गौतम बुद्ध ने जिस नये धर्म या मत का प्रवर्तन किया था, उसका प्रचार बहुत अधिक हुआ । न केवल भारत में, अपितु भारत से बाहर चीन, जापान, मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में भी बौद्ध धर्म लोगों का सबसे प्रमुख धर्म बन गया । आज भी इन देशों में करोड़ों बौद्ध मतावलम्बी रहते हैं । परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि जिस देश में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ था, उसमें से यह ऐसा लुप्त हो गया है, मानों यहाँ कभी बौद्ध धर्म प्रचलित ही नहीं था । इसका कारण यह है कि भारत में तत्त्वदर्शियों का अभाव कभी नहीं रहा । जिस समय बुद्ध ने अपने 'अहिंसा परमो धर्मः' तथा चार आर्य सत्यों का प्रचार किया था, उस समय परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं । कर्मकांडी यज्ञों में हिंसा अपनी सीमा को लांघ चुकी थी । लोग उससे ऊब चले थे । इसलिये बुद्ध की अहिंसा और प्रेम की वाणी लोगों को बहुत प्रिय

और शान्तिदायक प्रतीत हुई। फिर अशोक जैसे महान् सम्राट् का आश्रय मिल जाने के कारण भी बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन मिला। परन्तु यह स्थिति भारत में बहुत देर तक नहीं रह सकी। बौद्ध धर्म में अनेक बुराइयां घुस आईं। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप कर्मकांडी ब्राह्मणों को फिर सिर उठाने का अवसर मिला। कुमारिलभट्ट और मंडनमिश्र जैसे धुरन्धर पंडितों ने जैन और बौद्ध पंडितों को बारम्बार शास्त्रार्थों में परास्त किया और फिर प्राचीन वैदिक धर्म का उदय हुआ।

किन्तु इस बार ब्राह्मणों ने जिस नये धर्म को चलाया था, उसमें कर्मकांड की बहुत प्रधानता थी। भक्ति का अंश समाप्त हो चला था और लोग केवल बाहरी विधि-विधानों द्वारा ही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इससे भी बुरी बात यह थी कि सारा हिन्दू समाज सैकड़ों खंडों में विभक्त हो गया था। कुछ लोग शिव के उपासक थे, तो कुछ लक्ष्मी की पूजा करते थे। कोई कुबेर का भक्त था, तो कोई शेष भगवान को ही सब कुछ समझता था। सांख्यवादी, गोरखपन्थी, कापालिक, योगी, अघोरी, पितृपूजक आदि कितने ही अनगिनत सम्प्रदाय प्रचलित हो गये थे। ये सब अपने-अपने ढंग से परलोक में सुख पाने के लिये तरह-तरह के विधि-विधान करते रहते थे। ऐसे समय इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि किसी प्रकार सारे समाज को एक सूत्र में बाँधा जाय; क्योंकि एकता का सूत्र न रहने से समाज की माला का खंडित होकर बिखर जाना सुनिश्चित था। समाज को एक नया सिद्धान्त प्रदान करके उसे एकता के सूत्र में पिरोने का यह महत्वपूर्ण काम शंकराचार्य ने किया।

अद्वैत मत के प्रवर्तक—

शंकराचार्य ने बताया कि परमात्मा अर्थात् ब्रह्म केवल एक है। सारे देवी-देवता और यह सारा संसार उस ब्रह्म की लीलामात्र हैं। वस्तुतः यह सारा विश्व ब्रह्मांड ब्रह्म के सिवाय और कुछ है ही नहीं।

सब मनुष्य भी उसी ब्रह्म के अंश हैं। यदि मनुष्य किसी प्रकार अपने इस ब्रह्मस्वरूप को पहचान ले, तो वह मुक्त हो जाता है। इस आत्म-ज्ञान के अतिरिक्त मुक्त होने का और कोई उपाय नहीं है। शंकराचार्य का यह नया मत अद्वैत मत कहलाया, क्योंकि इस मत के अनुसार संसार में केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गई थी। 'केवल ब्रह्म ही सत्य है और सारा जगत् मिथ्या है। दो वस्तुएं हैं ही नहीं, केवल एक ब्रह्म ही ब्रह्म है।' इसलिये इस मत को अद्वैत मत कहा गया। शंकराचार्य जी ने अपने काल में इस मत का प्रतिपादन इतनी विद्वत्ता और योग्यता के साथ किया कि कोई भी विरोधी पंडित शास्त्रार्थ में उनके सम्मुख टिक न सका। अपनी इस प्रकांड विद्वत्ता के कारण ही शंकराचार्य 'जगद्गुरु' कहलाये।

शंकराचार्य जी का जन्म दक्षिण भारत में केरल राज्य मे आठवीं शताब्दी में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सती था। कहा जाता है कि बहुत दिन तक सन्तान न होने पर शिवगुरु और सती ने वृक्षगिरि पर्वत पर जा कर शंकर जी की उपासना की थी। शंकर जी की कृपा से पुत्र का जन्म होने के कारण ही इन्होंने बालक का नाम शंकर रखा था, जो आगे चलकर शंकराचार्य नाम से भारत भर में विख्यात हुआ।

शंकराचार्य के पिता का देहावसान तभी हो गया था, जब शंकराचार्य बालक ही थे। उनके पालन-पोषण का सारा भार उनकी माता के सिर पर आ पड़ा। ऐसी दशा में स्वाभाविक था कि माता और पुत्र में परस्पर अत्यधिक प्रेम होता। माता ने शंकराचार्य को पिता का अभाव कभी अखरने नही किया। ठीक समय पर उनका उपनयन संस्कार हुआ और उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिये एक योग्य गुरु के पास भेज दिया गया।

असाधारण प्रतिभा—

शंकराचार्य की बुद्धि असाधारण रूप से तीव्र थी। वह कठिन से

कठिन विषयों को भी सरलता से समझ लेते थे और जिस बात को वह एक बार पढ़ या सुन लेते थे, वह उनके स्मृति-पटल पर सदा के लिये अंकित हो जाती थी। कुछ ही समय में उन्होंने व्याकरण तथा अन्य शास्त्र पढ़कर समाप्त कर डाले। योग्य गुरु को योग्य शिष्य मिला। फिर उनकी विद्वत्ता में क्या कमी रहनी थी। शीघ्र ही उनके पांडित्य की धाक सब ओर जम गई। उन दिनों पांडित्य की अधिकता या न्यूनता का निर्णय शास्त्रार्थों द्वारा हुआ करता था। शंकराचार्य ने कुछ ही शास्त्रार्थों में यह बात स्पष्ट कर दी कि उनके सामने टिक पाना किसी साधारण पंडित के बस का काम नहीं है।

विद्याध्ययन पूर्ण करके शंकराचार्य फिर अपनी माता के पास लौट आये। अब वह तरुण हो चले थे। माता उन्हें देखकर आनन्द से फूली न समाई, अब उसकी एक ही साध थी कि शंकराचार्य विवाह करलें और घर बसाकर सुख से जीवन बितायें। पुत्र को सुखी देखकर किस माता का हृदय आनन्द से नही भर उठता ? इस अवसर की वह न जाने कब से प्रतीक्षा कर रही थी।

परन्तु शंकराचार्य जी की प्रवृत्ति गृहस्थाश्रम की ओर बिलकुल न थी। विवाह को वह मनुष्य की उन्नति में बाधक समझते थे। साथ ही उनका यह भो विश्वास था कि विवाह करके मनुष्य माया के मोह में फंस जाता है, जिससे मोक्ष प्राप्त कर पाना उसके लिये कठिन हो जाता है ; इसलिये शंकराचार्य संन्यासी हो जाना चाहते थे। उनकी अपनी इच्छा और उनकी माता की इच्छा एक दूसरी के ठीक विपरीत थीं। ऐसी दशा में क्या किया जाय ? शंकराचार्य दुविधा में पड़ गये। वह अपनी स्नेहमयी माता के चित्त को भी दुखाना नहीं चाहते थे और साथ ही संन्यासी भी हो जाना चाहते थे।

संन्यास का उपाय—

किम्वदन्ती है कि एक बार पूर्णा नदी मे स्नान करने गये हुए थे। वहाँ

मगरमच्छ ने उनका पैर पकड़ लिया। शंकराचार्य ज़ोर-जोर से शोर मचाने लगे। नदी के किनारे लोगों की भीड़ जमा हो गई। जरा देर में उनकी माता भी आ पहुँची। वह अपने पुत्र के प्राण बचाने को व्याकुल थी। परन्तु शंकराचार्य को बचाने के लिये कोई पानी में घुसने को तैयार न था। आखिर माता महादेव से पुत्र की प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना करने लगी। उसी समय शंकराचार्य ने चिल्लाकर माता से कहा "मां, अगर तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक संन्यास लेने की अनुमति दे दो, तो मगर मेरा पैर छोड़ देगा।"

माता बेचारी बड़ी संकट में पड़ गई। और कोई उपाय न देखकर उसने उन्हें संन्यासी होने की अनुमति दे दी। मृत पुत्र से संन्यासी पुत्र कही अच्छा! प्रतीत ऐसा होता है कि माता से संन्यास की अनुमति लेने के लिये शंकराचार्य ने यह प्रपंच रचा था। सचमुच का मगर संन्यासी का भी पांव नही छोड़ता।

खैर, माता की अनुमति मिल गई। शंकराचार्य संन्यासी हो गये। किन्तु माता ने एक शर्त करवा ली कि मेरी मृत्यु के समय तुम्हें मेरे पास उपस्थित रहना होगा और मेरी अन्त्येष्टि तुम्हीं को करनी होगी। उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने का वचन शंकराचार्य ने दिया और घर से निकल पड़े।

नर्मदा नदी के तट पर एक गोविन्दाचार्य नामक महात्मा आश्रम बनाकर रहते थे। शंकराचार्य ने उनके पास जाकर उनसे संन्यास की दीक्षा ली और उनके शिष्य बन गये। चार मास तक वह गोविन्दाचार्य जी के पास ही रहे। इस अवधि में गुरु और शिष्य में अवश्य ही काफी विचार-विनिमय होता रहा होगा। चार मास बाद गोविन्दाचार्य जी ने शंकराचार्य जी को आदेश दिया कि वह व्यास के वेदान्त सूत्रों का भाष्य करें, लोगों में वेदान्त मत का प्रचार करें और काशी जाकर वेदविरुद्ध मत-मतान्तरों का खंडन करें।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके शंकराचार्य काशी चले गये। वेदान्त सूत्रों पर आपने विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा और शास्त्रार्थों में अनेक विरोधी पंडितों को परास्त कर दिया। उसके बाद उन्होंने बद्रिकाश्रम में जाकर कुछ समय तक तपस्या की। वहां उन्होंने ज्योतिर्मठ नामक एक मठ की स्थापना की। बाद में तो उन्होंने ऐसे मठ देश के चारों छोरों पर स्पापित किये। ये मठ अब तक विद्यमान हैं, और तब से अब तक ज्ञान के विशिष्ट केन्द्र बने रहे हैं। ज्योतिर्मठ में तपस्या पूर्ण करने के पश्चात् शंकराचार्य ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में जगद्विजय करने के लिये निकले।

जब शंकराचार्य प्रयाग पहुँचे, तो उन्हें पता चला कि वहां एक प्रसिद्ध पंडित कुमारिल भट्ट प्रायश्चित करने के लिये आये हुए हैं। कुमारिल भट्ट ने जैन और बौद्ध पंडितों को शास्त्रार्थो में परास्त किया था। परन्तु उन्हें ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह था। उसी सन्देह का प्रायश्चित करने के लिये वह गंगा के किनारे तुषानल में जलकर प्राण-त्याग कर देना चाहते थे। जब शंकराचार्य पहुँचे, उस समय तक कुमारिल भट्ट अग्नि में जलने के लिये सब तैयारियां पूरी कर चुके थे। इसलिए उन्होंने स्वयं तो शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करना स्वीकार न किया, किन्तु उन्हें मंडनमिश्र के पास जाने को कहा। उन्होंने कहा—यदि आप मंडन मिश्र को जीत लेंगे तो आपका यश सब ओर फैल जायगा।

शंकराचार्य और मंडनमिश्र—

मंडनमिश्र रेवती नदी के किनारे माहिष्मती नगरी में रहते थे। वह स्वयं तो प्रकांड विद्वान थे ही, उनकी पत्नी भारती भी अपने समय की प्रसिद्ध विदुषी थीं। यहां तक कहा जाता था कि मंडनमिश्र के दरवाज पर पिंजरों में रहने वाले तोते और मैना भी जगत् की नित्यता, अनित्यता जैसे गम्भीर विषयों के सम्बन्ध में वाक्य बोला करते थे। तोते और मैना जैसे शब्द या वाक्य बार-बार सुनते हैं, वैसे ही बोलने लगते हैं।

शंकराचार्य तुरन्त माहिष्मती पहुँचे और मंडनमिश्र को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। इन दो धुरन्धर पंडितों के शास्त्रार्थ में भारती मध्यस्थ निर्णायक बनी। कई दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। अन्त में मंडनमिश्र हार गये। शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार शंकराचार्य ने उनसे संन्यासी बनने को कहा। इस पर भारती ने कहा—"मैं अपने पति की "अर्धांगिनी हूँ। आप पहले मुझे भी शास्त्रार्थ में परास्त करें, तब मिश्र जी पूरी तरह परास्त माने जायेंगे।" अन्त में शास्त्रार्थ में भारती भी हार गयी। मंडन मिश्र संन्यासी बन गये। शंकराचार्य ने उनका नाम सुरेश्वराचार्य रखा।

शंकराचार्य जी ने अपने आस-पास धुरन्धर पंडितों का अच्छा-खासा मंडल तैयार कर लिया था। सुरेश्वराचार्य, पद्माचार्य, चित्सुखाचार्य, तोटक, सनन्दन इत्यादि अनेक पंडित उनके पास उसी प्रकार रहते थे, जैसे बड़े-बड़े सम्राटों के निकट सामन्त राजा रहते हैं। इन सबके सहयोग से शंकराचार्य का अद्वैत मत के प्रचार का कार्य खूब ज़ोर-शोर से चल पड़ा।

ज्ञान में दिग्विजय—

शंकराचार्य को 'जगद्गुरु' की पदवी यों ही प्राप्त नहीं हो गई। जिस प्रकार राजसूययज्ञ करने से पहले राजा लोग दिग्विजय करने के लिये निकला करते थे, उसी प्रकार शंकराचार्य भी निकले। देश के दूर-दूर भागों में जाकर उन्होंने विरोधी मतों के समर्थकों से शास्त्रार्थ किये। एक भी शास्त्रार्थ में उन्हें कोई परास्त न कर सका, इसलिये वे 'जगद्गुरु' कहलाये। जब 'जगद्गुरु' के रूप में उनकी ख्याति फैल गई, तो लोग स्वयं भी उनसे शास्त्रार्थ करने और अपनी शंकाओं का समाधान कराने के लिये आने लगे। शंकराचार्य सबको यथोचित उत्तर देकर उनकी शंकाओं का निवारण करते थे।

जब शंकराचार्य को मालूम हुआ कि उनकी माता का अन्तिम समय निकट है, तो वह अपने वचन को पूर्ण करने के लिये उनके पास जा पहुँचे। अन्त समय में माता की जितनी सेवा हो सकती थी, उन्होंने की।

उन्होंने अपनी माता को वेदान्त का भी उपदेश दिया। माता ने बड़ी शान्ति और सन्तोष के साथ प्राण त्यागे।

मृत्यु के उपरान्त उनकी अन्त्येष्टि करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। साधारणतया यह नियम है कि सन्यासी लोग किसी की अन्त्येष्टि क्रिया नहीं करते। परन्तु माता की इच्छा थी कि उनकी अन्तिम क्रिया शंकराचार्य के ही हाथों हो, इसलिये शंकराचार्य ने स्वयं उनकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। कुछ ब्राह्मणों ने इस बात का विरोध किया, किन्तु शंकराचार्य ने उनकी कुछ भी परवाह न की। माता की अन्त्येष्टि करके शंकराचार्य फिर गोकर्ण लौट गये।

कुछ समय तक उन्होंने फिर प्रचार कार्य किया; और अपने मठों का संगठन सुदृढ़ किया। किन्तु उन्हें बहुत थोड़ा समय मिल सका। कहा जाता है कि देवता जिन्हें प्यार करते हैं, उन्हें शीघ्र ही स्वर्ग में बुला लेते हैं। यही बात शंकराचार्य पर भी लागू हुई। अभी उनकी आयु कठिनाई से बत्तीस साल की हुई थी कि उनके पास भी स्वर्ग का निमन्त्रण आ पहुँचा। आपको भगन्दर रोग हो गया। पहले तो किसी भी प्रकार की चिकित्सा से रोग कम न हुआ, परन्तु बाद मे पद्मपादाचार्य के किसी उपाय से वह ठीक हो गया।

किन्तु रोग ठीक हो जाने पर भी शंकराचार्य जी पूरी तरह स्वस्थ न हो पाये अभी उनके शरीर में दुर्बलता काफी थी। वह वृन्दावन चले गये और वही उनका देहावसान हो गया।

केवल बत्तीस वर्ष! इतना छोटा-सा जीवन शंकराचार्य को काम करने के लिये मिला था। इस छोटी सी अवधि में ही उन्होंने जितना बड़ा काम कर दिखाया, वह आश्चर्यजनक ही है। इस अल्पकाल में ही उन्होंने अपनी प्रतिभा से दिग्दिगन्तों को आलोकित कर दिया। शास्त्रार्थों द्वारा प्रचार कार्य के अतिरिक्त आपकी लिखित रचनाओं का मूल्य भी बहुत अधिक है। व्यास के वेदान्त सूत्रों पर आपका "शांकर भाष्य" अद्भुत

ग्रन्थ है। अपनी माता को मृत्यु काल में आपने जो उपदेश दिया था, वह "उपदेशसाहस्त्री" नामक पुस्तक में संगृहीत है। यदि उनका आयुष्य काल असाधारण रूप से इतना छोटा न रहा होता, तो विद्वता के क्षेत्र में वह और भी चमत्कार प्रदर्शित कर सकते।

शंकराचार्य का प्रभाव केवल विद्वता तक ही सीमित नहीं रहा। समाज सुधार में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया। विरोधी मतों के दिग्गज पंडितों को परास्त कर देने का यह परिणाम हुआ कि देश की अधिकांश जनता में एक ही मत प्रचलित हो गया और इस प्रकार इतने विस्तृत देश का समाज एकता के सूत्र में बंध गया। शंकराचार्य ने जिस वेदान्त का प्रतिपादन किया था, तत्व विवेचन की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका मूल्य आज भी बहुत अधिक आंका जाता है।

गुरु नानक

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारत में मुस्लिम आक्रान्ताओं के पांव बहुत कुछ जम गये थे। हिन्दू राजा आपसी फूट के कारण एक-एक करके हार गये थे। यों प्रतिरोध एक दम समाप्त नहीं हो गया था, परन्तु एक बात निश्चित हो गई थी कि अब चाहे जीत मुसलमानों की हो या हिन्दुओं की, किन्तु कोई भी एक दूसरे को देश से निकाल कर बाहर नहीं कर सकेगा। रहना दोनों को इसी देश में होगा। परन्तु इस बात को जानते हुए भी हिन्दुओं और मुसलमानों में आपस में विरोध और कटुता बहुत अधिक थी। मुसलमान हिन्दुओं को अधिक से अधिक संख्या में मुसलमान बनाना चाहते थे और हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ समझ कर उन्हें छूना तक पाप समझते थे। परन्तु यदि दोनों को एक ही साथ एक ही देश में रहना हो, तो इस तरह सदा परस्पर झगड़ते रहने से काम नहीं चल सकता था। उस समय कई सन्त महात्मा पुरुषों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता और प्रेम स्थापित करने का यत्न किया। इन सन्त महात्माओं

में गुरु नानक का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था ।

हिन्दुओं और मुसलमानों में प्रेम बढ़ाने के अतिरिक्त उस समय सामाजिक सुधार की भी बहुत अधिक आवश्यकता थी । हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाज अनेक कुप्रथाओं और पाखंडों के शिकार थे। सामान्य जनता धर्म के ठकेदारों, पीरों और सिद्धों के फेर में पड़ कर उल्लू बन रही थी। इन लोगों का स्वार्थ जनता को अशिक्षित रखने और अन्धविश्वासों का प्रचार करने से ही सिद्ध होता था; इसलिये इन्होंने तरह-तरह के पाखंड फैलाये हुए थे। ये पाखंड मुसलमानों के धर्म में तो थे ही, हिन्दुओं में भी कम नही थे। नानक और कबीर जैसे महात्माओं ने इन पाखंडों के चक्कर में से जनता को निकालने का बहुत महत्त्वपूर्ण यत्न किया। उन्होंने जनता के सम्मुख एक नया धर्म प्रस्तुत किया, जिसमें पाखंडों को स्थान नही था। उनका यह नया धर्म प्रेम, सेवा और परोपकार का धर्म था। नानकजी गुरु कहलाये और उनके अनुयायी शिष्य। यह 'शिष्य' शब्द बाद में बिगड़ कर 'सिख' बन गया।

नानक जी का जन्म पंजाब में लाहौर के पास तलवंडी नामक गाँव में सन् १४६६ में कार्तिक पूर्णिमा के दिन हुआ था । उन के पिता श्री कालूचन्द जी अपने इलाके के अच्छे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । नानक जी की माता तृप्ता अत्यन्त दयालु स्वभाव की थीं। वह दीन दुखियों की सदा सहायता करती थी। नानक जी की एक बड़ी बहन भी थी, जिसका नाम नानकी था।

नानक जी बचपन से ही साधु और मौजी स्वभाव के थे । आपका झुकाव दुनियादारी के कामों की ओर न हो कर सेवा और परोपकार के कामों की ओर अधिक था। उन दिनों शिक्षा की बहुत अच्छी व्यवस्था न थी, परन्तु नानक जी ने संस्कृत, फ़ारसी और पंजाबी भाषा की प्रर्याप्त शिक्षा प्राप्त की। गणित की ओर उनकी रुचि न थी।

पाखंड का खंडन—

नानक जी सरल स्वभाव अवश्य थे, परन्तु बुद्धू नहीं थे; बल्कि उनकी पैनी दृष्टि उन पाखंडों और आडम्बरों को तुरन्त पहचान लेती थी, जो साधारण लोगों की दृष्टि में पकड़ में नहीं आते थे। एक बार की बात है कि एक तालाब के किनारे खड़े कुछ ब्राह्मण पितरों का तर्पण करने के लिये सूर्य की ओर जल उछाल रहे थे। जब नानक जी ने यह देखा तो वह भी उनके पास जाकर दोनों हाथों से पानी उछालने लगे। उनके पानी उछालने के ढंग से ब्राह्मण समझ गये कि यह कोई अनाड़ी है। एक ने पूछा : "क्यों भाई, तुम इस तरह जल किस लिये उछाल रहे हो ?" नानक ने उत्तर दिया : "मैं अपने खेत को पानी दे रहा हूँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"वाह, तुम्हारा यहाँ से उछाला हुआ पानी खेत तक थोड़े ही पहुँच जायगा।" तब नानक ने पूछा—"अच्छा, आप यह पानी क्यों उछाल रहे हैं ?"

"हम तो अपने पितरों का तर्पण कर रहे हैं। हम जो यह पानी उछाल रहे हैं, यह स्वर्ग में पितरों के पास तक पहुँच जायगा। इसे पीकर वे अपनी प्यास बुझायेंगे।"

"अगर आपका उछाला हुआ पानी स्वर्ग तक पहुँच सकता है, तो मेरा उछाला हुआ पानी मेरे खेत तक क्यों नहीं पहुँच सकता ?" नानक ने तपाक से कहा। इस प्रकार से नानक जी ने बहुत ही शान्त तथा प्रभावोत्पादक रीति से तर्पण विधि की निःसारता स्पष्ट कर दी।

उन दिनों पुरोहित, पंडे, सिद्ध, योगी और पीर, फकीर तरह-तरह के ढोंग, जादू, मन्त्र इत्यादि का चमत्कार बतला कर लोगों पर रौब जमाया करते थे और उनसे पैसे ऐंठा करते थे। पर नानक जी प्रत्येक बात को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर देखते थे। जो बात उन्हें

नि:सार लगती थी, उसकी पोल खोल कर वह जनता के सामने रख देते थे।

भक्ति का मार्ग ही सच्चा है—

गम्भीर चिन्तन के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ईश्वर को प्राप्त करने का केवल एक उपाय है और वह है निष्कपट भक्ति। उन पर उस काल मे चल रहे भक्ति आंदोलन का भी प्रभाव पड़ा था। नानक जी की विचार-धारा कबीर साहब से बहुत मिलती-जुलती थी। कबीर साहब नानक जी से कोई ५० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। परन्तु कबीर ने खंडन पर जितना जोर दिया था, उतना नानक जी ने नहीं दिया। उन्होंने भक्ति, सेवा और परोपकार को ही सर्वोत्तम धर्म समझा था।

नानक जी की धार्मिक भावना दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। वह घंटों अकेले विचार-मग्न बैठे रहते। कभी-कभी तो वह ऐसी समाधि लगा कर बैठ जाते कि उन्हें बाकी दुनिया की कोई खबर न रहती। परन्तु उनके ये रङ्ग-ढङ्ग स्वभावत: ही उनके माता-पिता को पसन्द नही हो सकते थे। सामान्यतया माता-पिता की इच्छा यही होती है कि उनका पुत्र सद्गृहस्थ बन कर रहे और उनके वंश को आगे चलाये। नानक के पिता उन्हें कुछ धन कमाने और लोकव्यवहार सीखने की सलाह देते थे, तो नानक भक्ति और ज्ञान की बातें करने लगते थे। दोनों की प्रवृत्तियां अलग-अलग दिशा में थीं। इसलिये नानक जी को बहुत बार अपने पिता से कटु बातें भी सुननी पड़ती थीं।

जब नानक जी का यज्ञोपवीत संस्कार का समय आया तो उन्होंने यज्ञोपवीत लेने से इन्कार कर दिया। उनका कथन था कि केवल तीन धागे गले में डाल लेने से कोई पुण्यात्मा नहीं बन जाता। यदि मनुष्य अपने चित्त को पवित्र रखे, तो उसे यज्ञोपवीत की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उनके सम्बन्धियों ने यज्ञोपवीत धारण करने के लिये

बहुत आग्रह किया, तो उनका मन रखने के लिये नानक जी ने यज्ञोपवीत धारण करना स्वीकार कर लिया।

नानक जी का वैराग्य दिनों-दिन बढ़ता ही गया। उनके सम्बन्धियों न सोचा कि इनका दिमाग़ खराब हो गया हैं। किसी ने कहा कि इनका इलाज कराना चाहिये। कुछ ने सलाह दी कि "इनका विवाह कर देना चाहिये। जब गृहस्थ के बन्धन में पड़ जायेंगे, तो इनका वैराग्य अपने आप समाप्त हो जायगा।" पर विवाह तो तब किया जाय, जब लड़का परिवार का भरण-पोषण करने लायक धन कमाने लगे। आखिर नानक जी के पिता ने इन्हें व्यापार में लगाने का विचार किया।

सच्चा सौदा—

उन्होंने कुछ रुपया इकट्ठा करके नानक जी को एक नौकर के साथ नमक की बोरियां खरीद लाने के लिये भेजा। चलते समय अपनी ओर से उन्होंने अच्छी तरह समझा दिया—"बेटा, सौदा देखभाल कर ही लाना। खरा सौदा हो, जिसमें अच्छा नफा रहे।"

नानक जी रुपया लेकर चल दिये। अभी शहर तक पहुँचे भी नहीं थे कि रास्ते में साधुओं की एक जमात दिखाई पड़ी। पूछने पर पता चला कि साधु लोग कई दिनों से भूखे हैं। उन्हें खाने को कुछ चाहिये। नानक जी का सरल हृदय करुणा से द्रवित हो उठा। भूखे साधु को भोजन कराने से बढ़ कर लाभ का सच्चा सौदा और क्या हो सकता है ? उन्होंने सारा रुपया साधुओं को दे दिया और खाली हाथ वापस घर लौट आये। सारा हाल सुनकर उनके पिता की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। उन्होंने क्रोध में आकर कहा—"तुम बिलकुल निकम्मे आदमी हो। कल से तुम गायें और भैंसें चराने जाया करो।"

नानक जी गायें और भैंसें चराने जाने लगे। यह काम उन्हें बहुत पसंद आया। गायों को चरने छोड़ देते और अपने आप अकेले बैठ कर

परमात्मा की विचित्र लीलाओं पर विचार किया करते। जब पिता का क्रोध कुछ शान्त हुआ, तो उन्होंने देखा कि इस काम पर लगाने से तो नानक का वैराग्य और अधिक बढ़ता जा रहा है। अन्त में कोई उपाय न देख कर उन्होंने नानक को उसकी बड़ी बहन नानकी के पास सुल्तानपुर भेज दिया।

धनोपार्जन और विवाह—

बहन ने नानक का बड़े प्रेम से सत्कार किया। नानक जी का बहनोई जयराम नवाब दौलतखां के यहां ऊँचे पद पर नौकर था। उसने सिफ़ारिश करके नानक जी को भी नौकरी दिलवा दी। वह नवाब के मोदीखाने के अध्यक्ष बना दिये गये।

नौकरी मिलने पर भी नानक जी का स्वभाव न छूटा। दीन-दुःखी ग़रीब लोग दिन भर मोदीखाने के आगे भीड़ किये रहते। नानक दया-वश उनको "ना" नहीं कर सकते थे। सबको अनाज मिलता रहता। ग़रीब लोग अनाज लेकर उन्हें असीस देते हुए जाते।

पर यह स्थिति देर तक नही चल सकती थी। कुछ लोगों ने नवाब से शिकायत की कि आपका मोदी सारे गोदाम को लुटाये दे रहा है। पर जब हिसाब की जांच-पड़ताल हुई, तो सारा हिसाब बिलकुल ठीक निकला। इससे नानक जी की धाक जम गई।

अब नानक जी धनोपार्जन करने लगे थे। बहन, बहनोई और माता पिता ने ज़ोर डाल कर उनका विवाह सुलखनीदेवी नाम की एक कन्या के साथ करवा दिया। परन्तु नानक जी का गृहस्थ जीवन बहुत सुखी नहीं रहा। उनके दो पुत्र भी हुए श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द, परन्तु पत्नी के साथ उनका स्वभाव नहीं मिलता था। शायद ऐसे विरक्त स्वभाव वाले व्यक्ति के साथ कम ही स्त्रियों का स्वभाव मेल खा सकता था। उनकी पत्नी को धन और वस्त्राभूषणों की लालसा रहती थी, जो स्त्रियों के लिये स्वाभाविक है। परन्तु नानक जी अपनी कमाई का बड़ा भाग

साधु-सन्तों की सेवा पर व्यय कर देते थे। इस कारण घर में कलह बनी रहती थी। अन्त में नानक जी घर में रहते हुए भी स्त्री से दूर ही दूर रहने लगे।

वैराग्य और गृहत्याग—

सम्बन्धियों ने बीच में पड़कर दोनों में मेल कराने का यत्न भी किया, किन्तु दोनों के स्वभाव इतने विपरीत थे कि मेल होना कठिन ही था। अन्त में १४९७ में नानक जी ने घर को बिलकुल ही त्याग दिया। किसी को बिना कुछ बताये वह घर से निकल गये और तीन दिन बाद जब वापस लौटे तो कब्रिस्तान में आसन जमाकर बैठ गये। जब कुटु-म्बियों को पता चला तो वह उन्हें मना कर घर ले जाने के लिये आये, पर अब नानक घर के बन्धन से बिलकुल छूट चुके थे। अब सारा संसार उनका घर था। अपने एक पद में उन्होंने कहा है—"क्षमा हमारी मां है, सन्तोष पिता है, सत्य हमारा चाचा है, प्रेम हमारा भाई है, ओंकार हमारा स्वामी है। ऐसे कुटुम्ब को छोड़ कर और किस कुटुम्ब से नाता जोड़ा जाय ?"

सच्ची नमाज़—

अब नानक जी लोगों को उपदेश देने लगे। उनके उपदेश सुनने के लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हजारों की संख्या में आते थे। नानक जी हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों की ही बुराइयां उन्हें समझाते थे, और उन्हें भक्ति और प्रेम के मार्ग पर चलने को कहते थे। मुसल-मानों को अपने धार्मिक सिद्धान्तों का खंडन सहन न हुआ। उन्होंने नवाब से शिकायत की और कहा कि नानक जी को हमारे साथ नमाज़ पढ़ने के लिये बाधित किया जाय। नानक जी को नमाज़ पढ़ने में क्या ऐतराज़ हो सकता था ? वह उन सबके साथ नमाज़ पढ़ने गये किन्तु नमाज़ में उनके साथ-साथ उठे-बैठे नहीं। जब नवाब ने पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—**"नमाज़ के समय आपका मन तो काबुल में घोड़ा खरीदने**

के विचार में लगा हुआ था और काज़ी जी सोच रहे थे कि उनकी घोड़ी का बच्चा कहीं कुएँ में न गिर पड़े । ऐसे लोगों के साथ नमाज़ पढ़ने में मुझे क्या आनन्द आ सकता है ?"

नानक जी का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ने लगा । परन्तु जहाँ उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी, वहां उनके विरोधी भी बढ़ने लगे। कट्टर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही यह कहते थे कि नानक लोगों का धर्म भ्रष्ट कर रहा है । इसका कारण यह था कि नानक जी के उपदेशों से दोनों के ही स्वार्थों को चोट पहुँचती थी । इन लोगों का विरोध इतना उग्र था कि एक बार नानक जी ने अपने सेवक मर्दाना को एक ढोलक खरीदने के लिये बाज़ार भेजा, तो लोगों ने उसे ढोलक तक बेचने से इन्कार कर दिया । आखिर नानक जी को ढोलक बहुत दूर एक शहर से मंगानी पड़ी ।

लम्बी यात्राएँ—

कुछ दिन बाद नानक जी ने अपने नये सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये सारे देश का भ्रमण करने का निश्चय किया । उन दिनों की यात्रा आजकल की भांति आसान न थी । रास्ते की मुसीबतों के अलावा चोर-डाकुओं का भी डर रहता था। पर नानक जी ने इन सबकी परवाह न करते हुए दूर-दूर तक पैदल यात्राएँ की। दिल्ली, आगरा, काशी, होते हुए वह बंगाल गये । बंगाल से जगन्नाथपुरी हो कर दक्षिण की ओर निकल गये । अन्त में गुजरात की ओर से होते हुए बुन्देलखंड और वहां से करनाल होते हुए वापस सुलतानपुर लौट आये ।यह यात्रा दस वर्ष में समाप्त हुई । इस यात्रा में नानक जी की भेंट उस समय के बड़े-बड़े सिद्धों और फ़क़ीरों से हुई ।

नानक जी ने दक्षिण भारत की ओर एक और यात्रा की। इस यात्रा में आप श्री लंका तक गये । उनकी तीसरी यात्रा उत्तर भारत की ओर हुई । इस यात्रा में आप हिमालय की तराई में होते हुए नैपाल

और भूटान तक गये। इस यात्रा को दो वर्ष में समाप्त करके १५१६ में वह वापस कर्तारपुर लौट आये। उनकी चौथी यात्रा भारत के पश्चिम में विद्यमान देशों की ओर हुई। इस यात्रा में आप बिलोचिस्तान, अरब, ईरान और टर्की तक गये।

उनकी इस यात्रा की कई घटनाएं प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि एक बार मक्का पहुँच कर वह मक्का की प्रसिद्ध मस्जिद की ओर पांव किये सो रहे थे। इस पर एक मौलवी ने इन्हें टोका और बुरा-भला कहा। नानक जी ने उससे विनयपूर्वक कहा—"भाई, मुझे मस्जिद का पता न था। अब तुम मेरे पांव उस ओर कर दो, जिस ओर खुदा का घर न हो।" उस मौलवी ने इनके पांव एक और दिशा में कर दिये। कहते हैं कि उनके पांव घूमने के साथ ही मस्जिद भी घूम कर उसी ओर हो गई। यह घटना सत्य न भी हो, तो भी इतना तो स्पष्ट है ही कि परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये कोई दिशा ऐसी नहीं हो सकती, जिस ओर खुदा का घर न हो।

इसी तरह बगदाद का अत्याचारी खलीफ़ा जब एक बार उनसे मिलने आया तो वह कंकड़ पत्थर बटोरने लगे। इस खलीफा ने प्रजा पर अत्याचार करके बहुत धन इकट्ठा किया था। कंकड़ पत्थर बटोरते देख कर उसने नानक जी से पूछा—"यह कंकड़ क्यों बटोर रहे हो ?" नानक जी ने कहा—"मरने के बाद आपकी धनसम्पति जहां जायगी, वहीं हमारे ये कंकड़ पत्थर भी जायंगे।" कहते हैं कि इससे प्रभावित होकर खलीफा ने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को दान कर दी।

बुखारा उनके विश्वस्त अनुचर मर्दाना की मृत्यु हो गई। कन्धार और पेशावर होते हुए नानक जी वापस कर्तारपुर लौट आये। इसके बाद वह मृत्यु पर्यन्त कर्तारपुर में ही रहे। इस समय तक उनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ चुकी थी। उनके भक्तों की संख्या लाखों में थी।

७१ वर्ष की आयु में नानक जी का देहावसान हो गया। कहा

जाता है कि इसके शव की अन्त्येष्टि के लिये इनके हिन्दू और मुसलमान अनुयोयियों में विवाद हो गया। हिन्दू शव को जलाना चाहते थे और मुसलमान दफ़नाना। अन्त में जब कफ़न की चादर को हटा कर देखा गया, तो उनका शव वहां था ही नहीं। उनके भक्तों ने कफ़न को ही आधा-आधा बांट लिया और अपने-अपने मत के अनुसार उसकी अन्त्येष्टि कर दी।

गुरु नानक ने जिस नये मत का प्रवर्तन किया था, वह सिख मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आगे चलकर खूब फला-फूला। भारतीय इतिहास के निर्माण में सिख गुरुओं का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा।

नानक जी मूर्तिपूजा के विरोधी थे और एक निराकार तथा निर्विकार ईश्वर के उपासक थे। तीर्थयात्रा, उपवास, नमाज़, रोज़ा आदि में उनका विश्वास न था। वह चित्त की शुद्धि और श्रेष्ठ कर्मों पर अधिक बल देते थे। उन्होंने सब धर्मों में से अच्छाइयों को ग्रहण किया और उनके दोषों को त्याग कर एक नया पन्थ चलाया।

महान् समाज-सुधारक—

महर्षि दयानन्द

'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।'

मानव जाति के सामाजिक इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि लगभग सभी कालों में मनुष्य जाति को उन्नति की ओर ले जाने वाली और अवनति की ओर ले जाने वाली शक्तियां साथ-साथ काम करती रही हैं। प्रायः सभी कालों में एक ओर कुछ महात्मा पुरुष सामाजिक बुराइयों को हटाने का प्रयास करते रहे हैं और दूसरी ओर अनेक स्वार्थी लोग जनता को पथभ्रष्ट करके अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान तथा स्वार्थ और परोपकार की परस्पर विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष चिरकाल से चला आ रहा है। भारत भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा। मध्यकाल में भारत में मूर्ति पूजा, भूतप्रेत, मन्त्र-तन्त्र, तीर्थ-यात्रा इत्यादि के संबंध में अनेक अंध-विश्वास उत्पन्न हो गये थे। दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में ऐसे अनेक सिद्ध हुए, जिन्होंने इनका खंडन किया। उसके बाद महात्मा कबीर, गुरु नानक इत्यादि भी

इन अंध-विश्वासों का खंडन करने और दलित जातियों का उद्धार करने में लगे रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में यही महत्त्वपूर्ण कार्य महर्षि दयानन्द ने किया।

जिस समय ऋषि दयानन्द ने जन्म लिया, उस समय भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से अत्यधिक अवनति हो चुकी थी। देश पर विदेशी अंग्रेजों का शासन था। उनके शासन के फलस्वरूप देश दिनों-दिन दरिद्र और दरिद्रतर होता जा रहा था। लोगों का स्वाभिमान नष्ट हो चुका था। इसके अतिरिक्त सामाजिक कुरीतियाँ इतनी अधिक फैली हुई थीं कि उनके रहते देश और जाति का उन्नति कर पाना असम्भव ही था। अकेली हिन्दू जाति जात-पांत के भेद-भाव के कारण इतनी उपजातियों में बंटी हुई थी कि उसमें संगठन का एक दम अभाव हो गया था। लोग पुरुषार्थ को छोड़कर भाग्य और देवी देवताओं की शक्ति के सहारे बैठे थे। इसी भाग्यवादिता के कारण महमूद गज़नवी सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ डालने में समर्थ हुआ था। स्त्रियों को शिक्षा बिलकुल नहीं दी जाती थी और हरिजनों के साथ छुआछूत का अत्यन्त अपमानजनक भेदभाव किया जाता था। धर्म और तीर्थ-यात्रा की आड़ में और भी ऐसे अनेक पाखंड चल रहे थे, जिनका उद्देश्य केवल भोली-भाली जनता को ठगना ही था।

ऐसी दशा में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि हिन्दू जाति दिनों दिन दुर्बल और असहाय होती जाय। यद्यपि अंग्रेजों के शासन में मुगल-काल की भांति हिन्दुओं को बलपूर्वक तो मुसलमान नहीं बनाया जाता था, किन्तु हिन्दुओं के अस्पृश्य समझे जाने वाले दलित वर्ग की दशा इतनी खराब थी कि वे लोग स्वेच्छा से मुसलमान और ईसाई बनने को तैयार हो जाते थे। जो व्यक्ति किसी प्रलोभन या भय के कारण एक बार मुसलमान या ईसाई बन जाता था, उसके लिये फिर हिन्दू धर्म में लौटने का मार्ग सदा के लिये बन्द हो जाता था। हिन्दू रहते हुए

हिन्दुओं के देवी-देवताओं को मानते हुए इन अछूतों को जो अधिकार प्राप्त नहीं होते थे, वे मुसलमान या ईसाई बनने पर प्राप्त हो जाते थे। अछूत लोग हिन्दू रहते हुए हिन्दुओं के कुएँ से पानी नहीं भर सकते थे, किन्तु मुसलमान या ईसाई बन जाने पर उन्हें पानी भरने से कोई रोक नही सकता था। अछूत हिन्दू के साथ जो सवर्ण हिन्दू सीधे मुंह बात भी नहीं करते थे, और जिनके छू जाने पर स्नान करना आवश्यक समझते थे, वे ही सवर्ण हिन्दू मुसलमान और ईसाइयों के साथ किसी प्रकार का अपमानजनक वर्ताव नही कर सकते थे। ऐसे समय दयानन्द जी ने हिन्दू जाति में अनेक सुधार करके उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर किया।

काठियावाड़ में मौरवी राज्य में टंकारा नामक एक गाँव है। वहाँ कृष्ण जी नामक एक ब्राह्मण निवास करते थे। उन्ही के घर सन् १८२४ में एक बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम मूलशंकर रखा गया। यही मूलशंकर आगे चल कर महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम से देश भर में विख्यात हुआ।

दयानन्द जी का बचपन अन्य साधारण ब्रह्मण बालकों की भाँति ही व्यतीत हुआ था। उनके पिता शैव थे। उन्होंने दयानंद जी को बचपन से ही संस्कृत के मन्त्र और श्लोक कंठस्थ कराने आरम्भ कर दिये थे और अपनी तीव्र स्मरण शक्ति के कारण दयानन्द जी को शीघ्र ही बहुत से संस्कृत मन्त्र और श्लोक याद हो गये।

शिवरात्रि में नया ज्ञान—

दयानन्द जी के जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना तब घटी, जब उनकी आयु १३ वर्ष की थी। प्रतिवर्ष की भाँति उस वर्ष भी शिवरात्रि के पर्व पर उनके पिता ने शिव की पूजा का आयोजन बड़ी धूमधाम से किया था। शिवरात्रि दिन शिव-भक्त उपवास रखते हैं और सारी रात जाग कर शिव की पूजा करते हैं। बालक मूलशंकर को भी अपने परिवार के लोगों की देखा-देखी शिव पूजा और उपवास का आग्रह

था। सारे दिन उन्होंने उपवास रखा सायंकाल के समय मन्दिर में पूजा हुई। पूजा के पश्चात सब लोग मन्दिर में ही रात्रि जागरण के लिये बैठे रहे। ज्यों-ज्यों रात बीतने लगी, त्यों-त्यों लोगों को नींद आने लगी। उनमें से अधिक लोग पूजा का भाव भलीभाँति हृदयंगम किये बिना ही केवल नाममात्र करने के लिये मंदिर में बैठ गये थे, इसलिये जब उन्हें नींद आने लगी तो वे धीरे-धीरे लेट गये और ऊँघने लगे। किन्तु बालक मूलशंकर ने अपने आप को नीद के वशीभूत न होने दिया। वह पूजा के सब नियमों का यथाविधि पालन करके उसका पूरा पुण्य प्राप्त करना चाहते थे। जब उन्हें नीद आने लगी, वे आँखों पर पानी के छीटे देकर अपने आपको फिर सजग कर लेते थे।

शायद इतने सजग और सच्चे व्यक्ति को ही पूजा का असली फल मिलता है। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। मंदिर में बालक मूलशंकर के सिवाय और कोई नही जाग रहा था। तभी मंदिर के एक कोने में से एक चूहा निकला और धीरे-धीरे शिव की मूर्ति की ओर बढ़ा। इस समय मूर्ति पर फूल, फल और तरह-तरह के मिष्टान्न रखे हुए थे। चूहा बिल्कुल निश्चिन्त भाव से मूर्ति पर चढ़ गया और मिठाई खाने लगा। जरा सी मिठाई खाने के बाद वह चौंक कर मूर्ति से नीचे उतर गया। यह देख कर कि किसी प्रकार का संकट तो नहीं हैं, वह फिर मूर्ति पर चढ़ गया और मिठाई खाने लगा। इसी तरह वह चूहा कई बार चढ़ा और उतरा। उसे देख कर मूलशंकर के मन में यह विचार आया—"यह कैसे शिव हैं, जो अपने ऊपर चढ़े हुए चूहे से अपने मिष्ठान्न की रक्षा नहीं कर सकते ? हम जिन शिव की पूजा करते हैं, वे तो, सुना है, तीनों लोकों के रक्षक और असुरों के संहार करने वाले हैं। अवश्य ही यह शिव वह नहीं है, जिस की हम पूजा करते हैं और यदि वही शिव हैं तो फिर इनकी ऐसी दुर्दशा क्यों है ?

मूलशंकर ने अपने पिता को जगा कर उन्हें मिठाई खाते हुए चूहों

का दृश्य दिखाया और उनके सामने अपनी शंका रखी। परन्तु उनके पिता ने उन्हें कोई सन्तोपजनक उत्तर न दिया। केवल डरा-धमका कर बात को टाल दिया। परन्तु यह शंका मूलशंकर के मन में बनी ही रही। मूर्ति पर से उनका विश्वास उठ गया। उन्होंने घर जाकर तुरन्त उपवास तोड़ दिया। मूलशंकर को उस दिन एक ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसकी उस समय सारे देश को आवश्यकता थी।

वैराग्य की ओर—

उसके कुछ ही समय बाद मूलशंकर की एक बहिन की मृत्यु हो गयी। बहिन की मृत्यु से मूलशंकर के मन पर गहरी चोट लगी। मृत्यु की अनिवार्यता और जीवन का नश्वर स्वरूप उनकी आंखों के सम्मुख बहुत ही स्पष्ट रूप में चित्रित हो गया। एक वर्ष बाद उनके चाचा की भी मृत्यु हो गयी। तब से मूलशंकर को वैराग्य हो गया और उन्हें यह धुन लगी कि कोई ऐसा उपाय ढूंढा जाय, जिससे मनुष्य मृत्यु के चक्र से बच सके।

मूलशंकर के वैराग्य को उनके पिता भांप गये और उन्होंने सोचा कि यदि मूलशंकर का विवाह कर दिया जायगा, तो शायद उसका वैराग्य जाता रहे और सांसारिक काम-काज में उसका मन लग सके। जब दयानन्द जी को अपने पिता के विचार मालूम हुए, तो उहोंने घर से भाग निकलने का निश्चय किया।

गृहत्याग और संन्यास—

उस समय उनकी आयु २२ वर्ष की थी। एक दिन रात के समय चुपचाप वे घर से निकल पड़े। कुछ दिन तक वे इधर-उधर घूमते रहे। एक दिन एक मेले में उन्हें किसी परिचित व्यक्ति ने देख लिया और उनके पिता को सूचना दे दी। उनके पिता जी ने तुरन्त वहाँ आकर उन्हें पकड़ लिया और वापस घर ले चले। किन्तु मूलशंकर मौका पाकर घर पहुँचने से पहले ही फिर भाग निकले। इस बार उन्होंने अपना नाम

ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य रखा। कुछ समय बाद उन्होंने एक पूर्णानन्द सरस्वती नामक गुरु से सन्यास की दीक्षा ली और तब से उनका नाम दयानन्द सरस्वती हुआ।

दयानन्द जी को योग-विद्या सीखने की बड़ी धुन थी। उन्होंने जगह-जगह योगियों की खोज की। किन्तु उन्हें कहीं सच्चा योगी गुरु प्राप्त न हुआ। उन्होंने मध्यभारत में दूर-दूर तक का भ्रमण किया। अंत में वे योगियों की खोज में उत्तराखण्ड पहुंचे। बद्रीनाथ और केदार-नाथ के तीर्थों में जाकर भी उन्होंने हिमालय में रहने वाले योगियों की खोज की, किन्तु उनकी आशा पूर्ण न हुई। उन दिनों आजकल की भांति यात्रा की सुविधाएँ नहीं थीं इसलिये इन यात्राओं में दयानन्द जी को बहुत कष्ट उठाने पड़े।

मथुरा में विद्याध्ययन—

अन्त में घूमते-फिरते दयानन्द जी मथुरा पहुँचे। वहां एक प्रकांड विद्वान् स्वामी विरजानन्द जी रहते थे। दयानन्द जी उनके शिष्य बन गये और वहाँ रह कर उन्होंने स्वामी विरजानन्द से वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन किया।

विरजानन्द जी की दोनों आंखें जाती रही थीं। वह दुबले-पतले और क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति थे। कभी-कभी क्रोध में आकर वह दया-नन्द जी को बुरा-भला कहते और कभी-कभी मार भी बैठते थे। किन्तु दयानन्द जी अपने गुरु की इस दुर्बलता को भली-भांति समझते थे और इसीलिये कभी उसका बुरा न मानते थे। वह सदा विनीत भाव से विरजानन्द जी की सेवा करते रहते थे। बाद में क्रोध उतर जाने पर विरजानन्द जी को अपने किये पर पश्चाताप भी होता था। वह दया-नन्द जी की प्रखर बुद्धि के कारण उनसे प्रसन्न रहते थे। अपनी विनय तथा सेवा के द्वारा दयानन्द जी ने उनका हृदय पूर्णतया जीत लिया था।

लगभग ढाई साल तक दयानन्द जी विरजानन्द जी से शिक्षा प्राप्त

करते रहे। शिक्षा समाप्त होने पर विरजानन्द जी ने उन्हें देश-भर में भ्रमण करने और वैदिक धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा : "दयानन्द, देश में अज्ञान का अन्धकार फैला हुआ है। सच्चे शास्त्र और धर्म-ग्रन्थ, मिथ्या पुराणों और पाखंडों के तले दबे पड़े हैं। तुम जाओ और सारे देश में वैदिक धर्म का प्रचार करके वेदों और शास्त्रों का उद्धार करो।"

पाखंड खंडिनी पताका—

सन् १८६६ में हरिद्वार में विशाल कुम्भ हुआ था। दयानन्द जी इस कुम्भ मेले में पहुँचे और वहां जाकर उन्होंने अपनी पाखंड खंडिनी पताका फहरायी। कुम्भ में व्याख्यान देकर उन्होंने अपने विचारों का प्रचार करना चाहा। कुम्भ के अवसर पर तो उन्हें बहुत सफलता प्राप्त न हुई, किन्तु उनकी आगे की यात्रा के लिये अच्छी भूमिका तैयार हो गयी। कुम्भ के पश्चात् उन्होंने सारे देश का भ्रमण प्रारंभ किया। वह एक-एक शहर में जाते। वहां व्याख्यान देते और पुराणपन्थी लोगों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारते। जहां-जहां भी शास्त्रार्थ हुए, वहां सभी जगह दयानन्द जी की विजय हुई। इससे कुछ ही दिनों में उनकी धूम मच गयी। अन्त में सन् १८६९ में उन्होंने काशी में जाकर वहां के पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। काशी पुराणपंथी पंडितों का सब से बड़ा गढ़ था। इसलिये इस शास्त्रार्थ का महत्त्व बहुत अधिक था। इस शास्त्रार्थ में दयानन्द जी के मुक़ाबले में २८ विख्यात पंडित खड़े हुए थे, किन्तु दयानन्द जी ने उन सबको परास्त कर दिया।

काशी शास्त्रार्थ में सफलता पाने के बाद दयानन्द जी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। सन् १८७४ में दयानन्द जी ने अपने विचारों के प्रचार के लिये "सत्यार्थप्रकाश" नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें भ्रान्त मतों का खंडन और सत्य मत का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने "आर्यसमाज" नाम की एक संस्था की स्थापना भी की। सबसे पहली

आर्यसमाज राजकोट में ३१ दिसम्बर सन् १८७४ को स्थापित हुई। उसके बाद तो अहमदाबाद, बम्बई और लाहौर में बड़ी-बड़ी आर्यसमाजें बन गयीं।

समाज का सर्वांगीण सुधार—

दयानन्द जी ने हिन्दू जाति का सर्वांगीण सुधार करने का प्रयत्न किया। एक ओर तो उन्होंने अन्ध-विश्वासों को हटाने का यत्न किया और दूसरी ओर उन्होंने जात-पात के भेद-भाव को समाप्त करके हिन्दू जाति में समानता की भावना उत्पन्न करने और जाति को अधिकाधिक संगठित बनाने का प्रयत्न किया। अन्ध-विश्वासों को हटाने के लिये दयानन्द जी ने मूर्ति-पूजा का खंडन किया। उन्होंने निराकार एक ईश्वर की उपासना को ही सर्वोत्तम बताया। उस समय शिव, विष्णु इत्यादि बीसियों देवताओं की पूजा प्रचलित थी, जिसके कारण जाति को एकता के सूत्र में बांधने वाली कोई शक्ति शेष नहीं रही थी। एक ईश्वर की उपासना द्वारा एकता की भावना को बहुत बल मिलता था।

अछूतों के साथ सवर्ण हिन्दुओं के दुर्व्यवहार के कारण अछूत लोग मुसलमान और ईसाई बनते जा रहे थे, जिससे हिन्दुओं की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही थी। दयानन्द जी ने इस संकट को पहचाना। उन्होंने अनुभव किया कि यदि यही सिलसिला जारी रहा, तो बहुत जल्द ही हिन्दुओं का नाम-निशान समाप्त हो जायगा। एक ओर तो उन्होंने अछूतों के साथ समानता का व्यवहार करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया और दूसरी ओर मुसलमान बने हुए हिन्दुओं के लिये "शुद्धि" द्वारा फिर हिन्दू बनने का मार्ग खोल दिया।

महर्षि दयानन्द ने भारत की सामाजिक दुर्दशा के सही कारणों को पहचाना था और उन्हें हटाने का प्रयत्न किया था। उस समय अधिकांश जनता अशिक्षित थी और बहुत से स्वार्थी वर्ग अपना हित साधन करने के लिये उसे तरह-तरह के अन्धविश्वासों में फंसाये हुए थे, इसलिये

दयानन्द जी ने श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धि और तर्क को भी सामाजिक जीवन में स्थान दिलवाया। उन्होंने कहा कि सत्य वही है, जो तर्क की कसौटी पर खरा उतरे। अनेक पाखंडों का खंडन करने के लिये उन्होंने तर्क शक्ति का ही सहारा लिया।

ऋषि दयानन्द सत्य के सबसे बड़े पुजारी थे। उन्होंने आर्यसमाज के प्रसिद्ध दस नियमों में एक नियम यह भी बनाया था कि "प्रत्येक मनुष्य को असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये।" इससे स्पष्ट है कि सत्य के प्रति उनका अनुराग कितना प्रबल था।

विरोधियों की करतूतें—

किन्तु अपने इन सद्गुणों के कारण ही वे अनेक सम्प्रदायों की आंखों का कांटा बन गये। ये सम्प्रदाय जनता के अन्ध-विश्वास पर ही फल-फूल रहे थे। अनेक बार ऋषि दयानन्द को मारने की चेष्टा की गयी। दो-एक बार उन्हें ज़हर दिया गया जिसके प्रभाव को उन्होंने समय रहते पहचान लिया और समुचित चिकित्सा द्वारा उसका उपाय भी कर लिया। एक बार उन पर ज़हरीला सांप फेंका गया, किन्तु सांप के काट पाने से पहले ही दयानन्द जी ने उसे पकड़ लिया और झटक कर दूर फेंक दिया। कई बार रात के समय गुंडों ने उन पर आक्रमण करना चाहा, परन्तु दयानन्द जी स्वयं खूब बलिष्ठ थे, इसलिये गुंडों की दाल गलने नहीं पायी।

एक बार दयानन्द जी जोधपुर गये हुए थे। वहां के राजा यशवन्त-सिंह दयानन्द जी के भक्त थे। दयानन्द जी उन दिनों राजस्थान में राजाओं को सन्मार्ग पर लाकर उन्हें संगठित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वहां महर्षि दयानन्द के कुछ विरोधियों ने उनके रसोइये जगन्नाथ को अपने साथ मिला लिया। जगन्नाथ ने दूध में विष मिला कर दया-नन्द जी को पिला दिया। २५ सितम्बर को रात के समय उन्हें पहले-

पहल विष का प्रभाव अनुभव हुआ। पहले तो उन्होंने स्वयं ही योग द्वारा इस विष के प्रभाव को हटाने का प्रयत्न किया, किन्तु जब उससे सफलता न मिली तो उन्होंने बाकायदा चिकित्सा प्रारम्भ कराई।

दयानन्द जी को यह मालूम हो गया था कि उन्हें विष जगन्नाथ ने ही दिया है। कहा जाता है कि उन्होंने एकान्त में जगन्नाथ को अपने पास बुलाया था और उसे रुपयों की एक थैली देकर तुरन्त जोधपुर राज्य से भाग जाने को कहा था; क्योंकि उनका विचार था कि यदि जोधपुर के महाराज को यह बात पता चल गयी, तो फिर जगन्नाथ के प्राण किसी दशा में न बचेंगे।

उसके बाद चिकित्सा के लिये दयानन्द जी पहले आबू गये और वहां से अजमेर आ गये। किन्तु उनका रोग शान्त न हुआ। अन्त में ३० अक्टूबर सन् १८८३ के दिन महर्षि दयानन्द का स्वर्गवास हो गया। उस दिन दीपमालिका का पर्व था।

भारत के युगप्रवर्तकों में ऋषि दयानन्द का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने से पहले चली आ रही जनता की विचार-धारा में अत्यन्त क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उनसे पहले मूर्तिपूजा, अनगिनत देवी-देवताओं की पूजा, भूत-प्रेत, जादू-टोना और वाम-मार्ग इत्यादि अनेक ऐसी कुरीतियां और अन्ध-विश्वास प्रचलित थे, जिनके रहते देश और जाति का उन्नति कर पाना असम्भव था। ऋषि दयानन्द ने अकेले केवल अपने बल पर इन सब अन्ध विश्वासों के विरुद्ध आवाज़ उठायी और पाखंडों का दुर्ग तोड़ कर गिरा दिया। आज के युग में यह काम बहुत सरल प्रतीत होता है, किन्तु उस युग में यह सरल नहीं था।

दयानन्द जी का कार्य-क्षेत्र केवल समाज-सुधार तक ही सीमित नहीं था। देश की पराधीनता को वे भली-भांति अनुभव करते थे और उससे मुक्ति पाने के लिये प्रयत्नशील भी थे। काँग्रेसी नेताओं की अपेक्षा बहुत पहले उन्होंने "सत्यार्थप्रकाश" में यह घोषणा की थी कि "बुरे से बुरा

स्वदेशी राज्य अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य से कहीं अधिक अच्छा है।" इसीलिये उन्होंने अपने प्रमुख ग्रंथ "सत्यार्थप्रकाश" में एक पूरा समुल्लास राजनीति के प्रसङ्ग को लेकर लिखा है। अपने अन्तिम दिनों में वे रजवाड़ों का संगठन भी देश की राजनीतिक स्वाधीनता के लिये ही कर रहे थे। उनकी अकाल मृत्यु से उनका वह कार्य अधूरा रह गया, किन्तु उनकी स्थापित की हुई संस्था 'आर्यसमाज' ने देश की सामाजिक उन्नति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भूदान-यज्ञ के प्रवर्त्तक—

आचार्य विनोबा भावे

इस बीसवीं शताब्दी में अणुशक्ति का आविष्कार और महात्मा गांधी द्वारा अहिंसात्मक सत्याग्रह का सफल प्रयोग, दो ऐसी महान् शक्तियाँ थीं, जिन्होंने मानव जाति के वर्तमान और भविष्य पर गहरा प्रभाव डाला है। इसी प्रकार की एक और तीसरी शक्ति है आचार्य विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ। भूदान-यज्ञ अभी परीक्षण की दशा में है, किन्तु यदि यह परीक्षण सफल सिद्ध हुआ, तो यह बीसवीं शताब्दी का अब तक का सबसे बड़ा चमत्कार सिद्ध होगा। और सफलता की सम्भावनाएं बहुत अधिक हैं।

भूमि और सम्पत्ति का मोह चिरकाल से मनुष्य की नस-नाड़ियों में समाया हुआ है। महाभारत-काल में दुर्योधन ने कहा—"हे कृष्ण, बिना युद्ध के मैं सुई की नोंक बराबर भी भूमि देने को तैयार नहीं हूँ।" उसके बाद के इतिहास में भी प्रायः सदा ही मनुष्य भूमि और सम्पत्ति हथियाने

के लिये खून बहाते रहे हैं। फ्रांस और रूस की क्रांतियाँ इस छिनी हुई सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिये निर्धन और भूमिहीन लोगों का प्रयत्न भर थीं। उन क्रांतियों में कितना खून बहा, कितनी हिसा हुई और कितना सम्पत्ति का विनाश हुआ ! और अब यह आचार्य विनोबा भावे बिना किसी रक्तपात और बिना किसी दबाव के ही लोगों से उनकी प्राणों से भी प्यारी भूमि और सम्पत्ति लिए ले रहा है ! यह चमत्कार नही तो क्या है ?

विनोबा का असली नाम विनायक नरहरि भावे है। जब यह गाधी जो के साबरमती-आश्रम में पहुँचे थे, वहाँ एक और आश्रमवासी श्री-पांडोबा रहते थे। उन्हीं के नाम के मेल में गांधी जी ने इनका नाम विनोबा रख दिया। तब से इनका विनोबा नाम ही प्रचलित हो गया। विनोबा जी का जन्म बम्बई राज्य मे कुलाया जिले के गागोड़ा नामक गांव मे सितम्बर सन् १८९५ के दिन हुआ। इनके पिता एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वह धार्मिक वृत्ति के साधु-स्वभाव व्यक्ति थे। विनोबा की माता भी अत्यंत आचारपरायण थी। मराठी संतों के गीत सदा उनकी जीभ पर रहते थे। ऐसे माता-पिता की संतान में धार्मिक और संत प्रवृत्ति होनी बिलकुल स्वाभाविक थी।

आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प—

विनोबा की प्रारम्भिक शिक्षा अपने गांव में हुई, पर १९०७ में आप बड़ौदा के हाईस्कूल में प्रविष्ट हो गए। विनोबा अत्यन्त मेधावी बालक थे। पाठ्यक्रम की पुस्तकों को पढ़ डालना आपको खिलवाड़-सा प्रतीत होता था। जो विषय जितना कठिन होता था, उसमें विनोबा की उतनी ही अधिक रुचि होती थी। गणित का तो उन्हें विशेष चाव था। उन्हें गणित के सम्बन्ध में अपने ऊपर विश्वास भी बहुत अधिक था। एक बार गणित की परीक्षा में प्रश्नपत्र में पहला प्रश्न बहुत कठिन आ गया। बाकी प्रश्न सरल थे, किंतु विनोबा सब से पहले उस पहले और कठिन

प्रश्न को हल करने में जुट गये। उस प्रश्न को हल करने में उनका लगभग सारा समय बीत गया और वह सरल प्रश्नों को नहीं कर पाए। जिन विद्यार्थियों ने उस पहले प्रश्न को कठिन समझ कर छोड़ दिया था, उनके विनोबा से अधिक नम्बर आए।

परंतु इस घटना से विनोबा का दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास प्रकट होता है। गणित के पर्चे मे भले ही दृढ़ संकल्प का सही मूल्य न आंका जाता हो, किन्तु जीवन के क्षेत्र में इसका बहुत मूल्य है। जीवन में सब से कठिन प्रश्न को छोड़ देने से काम नहीं चलता. बल्कि वहां तो सबसे कठिन प्रश्न को ही हल करना सबसे अधिक आवश्यक होता है। यही कारण है कि अपने दृढ़ संकल्प के द्वारा विनोबा जीवन के क्षेत्र में अत्यंत सफल रहे हैं।

१९१३ में विनोबा ने मैट्रिक परीक्षा पास करली और बड़ौदा में ही कालेज में प्रविष्ट हो गए। इसमें सन्देह नही कि यदि वे अपनी पढ़ाई जारी रखते, तो अच्छे नम्बरों से पास होकर बी०ए० और एम०ए० की उपाधियां प्राप्त करते। किन्तु उन्हें बीच में ही दासतापूर्ण शिक्षा प्रणाली की निःसारता अनुभव होने लगी। केवल प्रथम वर्ष का अध्ययन पूरा करके ही उन्होंने कालेज छोड़ दिया। किन्तु कालेज छोड़ने से ही उनके मन को शांति नही मिली। दासतापूर्ण शिक्षाप्रणाली से उन्हें मैट्रिक इत्यादि परीक्षाओं के जितने भी प्रमाण-पत्र मिले थे, उन सबको उन्होंने अग्नि को समर्पित कर दिया। जिस मार्ग पर आगे चलना नही, उसका चिन्ह भी क्यों शेष रखा जाय? उससे जरा भी मोहममता किस लिए रहे? ऐसा था विनोबा का सुनिश्चित और दृढ़ संकल्प। अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी उन्हें अपने इस निर्णय पर पछताना नहीं पड़ा।

गुरु मिल गया—

उस समय तक महात्मा गाँधी साबरमती में अपने आश्रम की स्थापना कर चुके थे। प्रकाश की खोज में विनोबा भी इसी आश्रम में जा पहुँचे।

विनोबा को उपयुक्त गुरु मिल गया और गांधी जी को उपयुक्त शिष्य। दोनों का यह सम्बंध दृढ़ और दृढ़तर होता गया। बल्कि बाद में तो स्थिति कुछ ऐसी विचित्र हो गई थी कि यह कह पाना कठिन था कि कौन गुरु है और कौन शिष्य।

विनोबा आश्रम में रहकर सचमुच तपस्या करते थे। शारीरिक परिश्रम करने में आपको विचित्र आनन्द आता था। अत्यधिक परिश्रम करने के कारण वह दुर्बल भी हो चले थे, किन्तु दृढ़ इच्छाशक्ति के कारण कभी थकान अनुभव न करते थे। कुछ ही समय में सब आश्रमवासी समझ गये कि विनोबा किसी और ही धातु के बने हैं। उनकी समता किसी से नहीं है।

संस्कृत का अध्ययन करने के लिये आपने साबरमती आश्रम से एक साल की छुट्टी ली। छः मास तक उन्होंने ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन किया और शेष छः मास महाराष्ट्र में घूम-घूम कर गीता प्रवचन करते हुए बिताये। ठीक साल भर बाद विनोबा फिर आश्रम में वापस पहुँच गये और फिर पहले की ही भाँति दिन में सोलह-सोलह घंटे काम करने लगे।

१९२१ में गांधी जी ने जमनालाल बजाज के अनुरोध पर वर्धा में एक आश्रम की स्थापना की थी। इस आश्रम के कार्य को संभालने के लिये एक मनस्वी कार्यकर्ता की आवश्यता थी। विनोबा से अधिक उपयुक्त और कोई व्यक्तिगांधी जी की दृष्टि में न था। वर्धा आश्रम का सारा कार्य-भार विनोबा को संभाल लेना पड़ा।

कार्य का दिखावा नहीं—

विनोबा प्रचार या विज्ञापन को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना ठोस काम को देते हैं। यही कारण हैं कि अत्यन्त उपयोगी ठोस काम करते रहने पर भी उनका नाम वर्षों तक देश की जनता तक नहीं पहुँच सका रचनात्मक कार्यक्रम, वर्धा शिक्षा योजना, चरखासंघ, ग्रामोद्योग संघ, गो-

सेवा संघ आदि आन्दोलनों के पीछे आपका काफी हाथ था, किन्तु आप अखिल भारतीय नेता के रूप में जनता के सामने नही आये।

विनोबा स्वयं कार्य करने में विश्वास करते हैं; औरों से कार्य करवाने में नही। वे लोगों को भी यही सलाह देते हैं कि बड़ी-बड़ी संस्थाएं खड़ी करके कार्य का दिखावा मत करो, अपितु स्वयं अपने से जितना भी उपयोगी सेवा-कार्य बन पड़े, करो। सेवा करके बड़प्पन की अभिलाषा मत करो। उनका सब से बड़ा सिद्धान्त है, "नेकी कर, कुएं में डालो" यह सिद्धान्त उन्होंने बचपन से ही अपनी मां से सीखा था।

संस्थाओं का काम करते-करते विनोबा जी को संस्थाओं में घुस आने वाले पदलोलुप व्यक्तियो का भी अच्छा अनुभव हो गया है। ऐसे लोग संस्थाओ में सहयोग देने तो आते हैं, किन्तु स्वयं काम करना नहीं चाहते ऐसे ही एक सज्जन वर्धा में विनोबा के पास आये; बोले--"मैं वर्धा मे रह कर देहातों मे प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करने वाले लोगों की सहायता करना चाहता हूँ।" विनोबा जी ने छूटते ही उत्तर दिया-"यह तो ऊंट पर चढ़ कर बकरियाँ चराने जैसा हुआ।"

दरिद्रनारायण की सेवा—

विनोबा ने अपने जीवन का लक्ष्य दरिद्रनारायण की सेवा को बनाया है। राजनीतिक क्षेत्र मे भी उन्होंने कार्य किया है, किन्तु वह उनका गौण क्षेत्र है। पराधीन देश मे राजनीतिक-कार्य भी दरिद्रनारायण की सेवा का ही एक अंग है, इसलिये विनोबा ने उसे किया, अन्यथा उनके आध्यात्मिक और समाज-सुधार के क्षेत्र में उसके लिये स्थान न था उनका अधिकांश समय वर्धा के आस-पास के गाँवों मे रचनात्मक-कार्य करने में ही बीता है। अपने सदृश अन्य कार्यकर्ता भी आपने तैयार किये, जिन्हें लक्ष्य करके एक बार गांधी जी को कहना पड़ा था कि विनोबा के पास निर्भय और तेजस्वी कार्यकर्ताओं की जैसी सेना है, वैसी मेरे पास भी नही है।

विनोबा की दृष्टि में शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक है, परन्तु वह शिक्षा आज की सी केवल किताबी शिक्षा न होनी चाहिये, जिसका जीवन से कोई सम्बन्ध ही न हो। उनके मतानुसार जीवन और शिक्षा साथ ही साथ चलने चाहियें।

राजनीतिक आन्दोलनों के सिलसिले में विनोबा पहली बार १९२३ में जेल गये। उसके बाद तो गांधी जी के विश्वस्त कार्यकर्ता होने के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। मध्यप्रदेश की तत्कालीन सरकार तो विनोबा के आश्रम को गांधी जी के आश्रम से भी अधिक खतरनाक समझती थी।

पहले-पहल अखिल-भारतीय स्तर पर विनोबा जी जनता के सम्मुख १९४० में आये, जब गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिये पहला सत्याग्रही आपको ही चुना। उन दिनों आपको तीन बार जेल मे जाना पड़ा अन्य नेताओं की भाँति विनोबा को जेल में 'ए' या 'बी' क्लास की इच्छा कभी नही रही। वह स्वेच्छा से और आग्रहपूर्वक 'सी' क्लास में जाते थे।

स्थितप्रज्ञ—

विनोबा ने विवाह नहीं किया। इसलिये मिथ्या भावुकता का उन में अभाव है। उन्होंने अपना अलग परिवार न बसा कर सब निर्धनों को ही अपने परिवार का अंग मान लिया है। इस कारण उन में हमें स्थितप्रज्ञता के दर्शन होते हैं। १९४३ में "भारत छोड़ो" आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व गांधी जी ने आमरण अनशन करने का विचार किया था। जब गांधी जी के अन्य निकटस्थ व्यक्तियों को उनका यह विचार मालूम हुआ, तो वे सब व्याकुल हो उठे। परन्तु विनोबा ने कहा "आपका विचार ठीक है। ऐसी स्थिति में अहिंसक व्यक्ति आत्मबलिदान कर सकता है। पर इसका अन्तिम निर्णय उसे स्वयं ही करना होगा।" गांधी जी तक को निरुद्वेग भाव से आत्मबलिदान की सलाह दे सकना

केवल विनोबा ही के बस की बात थी।

गांधी जी की मृत्यु से विनोबा को कितना आघात पहुँचा होगा, इस की कल्पना करना कठिन नहीं है। परन्तु उस अघात को उन्होंने अत्यन्त शान्ति के साथ सह लिया। ज़रा सी भी बेचैनी बाहर प्रकट नहीं होने पाई।

एक क्रान्तिकारी परीक्षण—

विनोबा जी का भूदान-यज्ञ न केवल भारत के, बल्कि समस्त संसार के सम्मुख एक नया और क्रन्तिकारी परीक्षण है। सन् १९५१ में हैदराबाद और तेलंगाना प्रदेश में किसानों और ज़मींदारों में जोरदार झगड़े हो रहे थे। किसानों का संगठन साम्यवादियों ने किया था और वे किसान ज़मींदारों की भूमि पर कब्ज़ा करने जा रहे थे। पुलिस ने ज़मींदारों के अधिकारों की रक्षा के लिये अनेक बार किसानों पर गोलियाँ चलाईं। अनेक बार डट कर लड़ाई हुई। उस समय विनोबा जी ने वर्धा से हैदराबाद तक पैदल यात्रा की। उनका उद्देश्य वहाँ शान्ति स्थापित करना था। एक बार जब वह पंचमपल्ली नामक गांव मे प्रार्थना सभा में भाषण दे रहे थे, तब कुछ भूमिहीन मजदूरों ने उनसे कहा—"हमारे पास जोतने को दो अंगुल भी ज़मीन नहीं है। हम ज़मीन न छीनें, तो क्या करें ? पेट पालने के लिये और कोई चारा ही नही है।"

विनोबा जी को जैसे सत्य की झलक दिखाई पड़ गई। उन्होंने उसी समय अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में उपस्थित लोगों से अपील की कि कोई भाई इन ग़रीब लोगों के लिये अपनी अतिरिक्त भूमि में से कुछ भाग दे सकते हों, तो दे दें। एक सहृदय व्यक्ति ने तुरन्त उठ कर १०० एकड़ भूमि के दान की घोषणा की। भूदान-यज्ञ का श्रीगणेश हुआ।

न्यूटन ने सेव को गिरते देखा था और उसने विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति कर दी थी। इसी प्रकार इस छोटे से गांव में दान में भूमि प्राप्त करके

विनोबा को भी नये सत्य का साक्षात्कार हो गया। उन्होंने समझ लिया कि लोगों से अतिरिक्त भूमि और सम्पत्ति लेने का एकमात्र उपाय हिंसा और मार-काट ही नहीं है। प्रेम से, समझा-बुझाकर और मना कर भी उनसे भूमि ली जा सकती हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त को परीक्षण द्वारा प्रमाणित करने का निश्चय कर लिया।

पिछले चार साल से विनोबा गांव-गांव भूमि मांगते हुये पैदल घूम रहे हैं। उन्होंने ५० लाख एकड़ भूमि भूदान में एकत्र करने का संकल्प किया था। वह संकल्प अब पूर्ण हो चुका है। किन्तु भूदान-यज्ञ अभी जारी है।

एकमात्र साधन-प्रेम—

भूमि-दान में लेने के लिये विनोबा युक्ति का उतना प्रयोग नहीं करते, जितना प्रेमपूर्ण आग्रह का। एक ज़मीदार ने जब भूमि देने में आनाकानी करते हुए कहा; महाराज, मेरे पास तो भूमि बहुत थोड़ी है—पांच मेरे लड़के हैं—आपको कहाँ से भूमि दूँ ? तो विनोबा बोले–"अगर आपके एक और छठा लड़का भी होता, तो आप उसे भी भूमि में हिस्सा देते या नहीं ?" ज़मीदार ने कहा—"अगर छटा लड़का भी होता, तो उसे हिस्सा देना ही पड़ता।" विनोबा ने कहा—"तो आप मुझे अपना छटा पुत्र ही मान लीजिये। मैं अपना हिस्सा मांगता हूँ, मुझे मेरा हिस्सा दीजिये।" जो काम मारकाट, बल-प्रयोग और तर्क-वितर्क से न होता, वह प्रेमभरी इस कच्ची सी युक्ति से हो गया।

"भूदान-यज्ञ" वर्तमान सभ्यता को विनोबा की चुनौती है; ठीक उसी प्रकार जैसे गांधी जी का सत्याग्रह पश्चिमी जगत् के शस्त्रीकरण को चुनौती था। भूदान-यज्ञ की सफलता अभी भविष्य के गर्भ मे है, किन्तु संसार के सामने एक बिलकुल नई विचारधारा प्रस्तुत करने के कारण विनोबा का स्थान संसार के श्रेष्ठ विचारकों में समझा जा सकता है।

विचारक और सुधारक होने के अतिरिक्त विनोबा जी एक कुशल लेखक भी हैं। उनकी पुस्तक "गीता-प्रवचन" अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। अपनी माता जी के लिये उन्हें गीता का मराठी में अनुवाद "गीताई" नाम से किया था, जो इस समय महाराष्ट्र में बहुत प्रचलित है। "स्वराज्य शास्त्र" "विचार-पोथी" आदि आपकी अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु विनोबा जी बोलने और लिखने में संयम रखने पर जोर देते हैं इसलिये वह न तो अनावश्यक लिखते ही हैं और न बोलते ही।

स्वाधीनता-संग्राम के भीष्म पितामह —

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो, रणे च भीरुत्वम्
तं भुवनत्रय तिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्।

भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी के प्रविष्ट होने से पूर्व लोकमान्य बालगंगाधर तिलक भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने अत्यन्त निर्भीकता के साथ देश की स्वाधीनता की लड़ाई को आगे बढ़ाया। विदेशी सरकार ने उनको अनेक बार कारावास का दंड दिया और इस कारावास में उन्हें बहुत सी यन्त्रणाएँ सहनी पड़ीं; किन्तु अपने सिद्धान्तों पर अविचलित रहते हुए लोकमान्य तिलक ने न तो सरकार से सम्मुख सिर झुकाना ही स्वीकार किया, और न अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का ढिंढोरा पीटकर ही जनता की सहानुभूति प्राप्त करने का यत्न किया। किन्तु उनके त्याग, कष्ट, सहिष्णुता और तपस्या ने देश में विलक्षण राजनीतिक जागृति उत्पन्न कर दी। उनकी इन अनगिनत सेवाओं के कारण ही जनता ने

उन्हें 'लोकमान्य' की पदवी से विभूषित किया।

लोकमान्य का जन्म महाराष्ट्र में रत्नागिरि जिले में एक छोटे से गाँव चिखल में हुआ था। उनके पिता पं० गंगाधर रामचन्द्र तिलक पहले एक साधारण शिक्षक थे, किन्तु बाद में उन्नति करके स्कूलों के डिपुटी इंस्पैक्टर बन गये थे। उन्ही के यहाँ २३ जुलाई १८५६ ई० को लोकमान्य का जन्म हुआ।

घर में सबसे छोटे बालक होने के कारण परिवार के सब लोग इन्हें 'बाल' नाम से ही पुकारते थे। आगे चलकर उनका यह 'बाल' नाम ही प्रसिद्ध हो गया।

अन्याय का प्रतिरोध—

बालगंगाधर बचपन से ही अत्यन्त मेधावी थे। संस्कृत की कई पुस्तकें उन्होंने बचपन में ही कंठस्थ कर ली थीं। गणित मे भी आपकी विशेष रुचि थी। चरित्र की दृढ़ता जो बाद के जीवन में उनकी बड़ी विशेषता रही, उनके बाल्यकाल में भी स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। एक बार उनके विद्यालय में छात्रों ने मूगफली के छिलके अपनी कक्षा के कमरे में बिखेर दिये। जब अध्यापक ने इस विषय में पूछताछ की तो किसी ने न बताया कि छिलके किसने बिखेरे ? इस पर अध्यापक ने प्रत्येक छात्र को दो-दो बेंत लगाने प्रारम्भ किये। परन्तु बालगंगाधर तिलक ने बेंत खाने से इंकार कर दिया और साथ ही उन्होंने दूसरे की चुगली करने से भी इंकार किया। परिणाम यह हुआ कि अध्यापक ने रुष्ट होकर उन्हें विद्यालय से निकाल दिया। तिलक विद्यालय से निकल गये, किन्तु उन्होंने अन्याय के सम्मुख झुकना स्वीकार न किया।

तिलक का विवाह १४ वर्ष की आयु में ही हो गया था। उस समय तक वे कालेज में पढ़ ही रहे थे। कहा जाता है कि तिलक की पत्नी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक हृष्ट-पुष्ट थी इस बात को लेकर उनके मित्रों ने उन्हें छेड़ना और उन पर ताने कसना शुरू किया। उस समय तक

तिलक का अपना शरीर काफ़ी कमज़ोर था। बाद में उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प द्वारा व्यायाम करके अपने शरीर को खूब हृष्ट-पुष्ट बनाया और उसके बाद से उनका यह शरीर उनके आकर्षक व्यक्तित्व का एक महत्त्व-पूर्ण अङ्ग बन गया।

तिलक ने १८७६ई० में बी०ए० और १८७९ई० में एल०एल०बी० की परीक्षा उतीर्ण की। अपने शिक्षाकाल में ही तिलक ने अपने सहपाठी मित्र आगरकर के साथ मिलकर यह संकल्प किया था कि वे सरकारी नौकरी न करेंगे और जैसे भी सम्भव हो, देशसेवा में अपना जीवन लगा देंगे।

शिक्षा और प्रचार—

देश-सेवा के लिये शिक्षा और प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता थी। इसलिये तिलक और आगरकर दोनों ने मिलकर एक स्वतन्त्र विद्यालय खोला, जिसका नाम 'न्यू इंगलिश स्कूल' रखा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लेखक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर भी इस नये विद्यालय में अध्यापन-कार्य कर रहे थे। कुछ ही समय में यह विद्यालय खूब चल निकला। चार साल में ही इसमें विद्यार्थियों की संख्या एक हज़ार से भी अधिक हो गयी। शिक्षा के क्षेत्र मे और अधिक कार्य करने के लिये तिलक ने १८८४ई० में 'दक्षिण शिक्षा समिति' नामक एक संस्था बनायी और इस संख्या की ओर से 'फरग्यूसन कालेज' प्रारम्भ किया गया। ज्यों-ज्यों 'दक्षिण शिक्षा समिति' की आर्थिक स्थिति अच्छी होने लगी, त्यों-त्यों उसमें गुटबन्दियाँ बढ़ने लगीं। प्रायः सभी संस्थाओं में ऐसा हुआ करता है। इन गुटबन्दियों में लोकमान्य तिलक का पक्ष अल्प संख्या में था। तिलक का कथन था कि हमें अपनी शिक्षा संस्थाओं में त्याग-वृत्ति और कठोर परिश्रम पर अधिक बल देना चाहिये। कार्यकर्त्ताओं का वेतन ७५ रुपये से अधिक न होना चाहिये और इतना वेतन पाने के पश्चात् प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपना सारा समय संस्था के कार्य में ही लगाना

चाहिये और अधिक धनोपार्जन के लिये कोई अन्य व्यवसाय न करना चाहिये। उनका विरोधी दल इन सुझावों को मानने को तैयार न था। अन्त में तिलक ने 'दक्षिण शिक्षा समिति' से त्यागपत्र दे दिया।

जब 'न्यू इंगलिश स्कूल' का काम अच्छी तरह जम गया, तो जनता में राष्ट्रीय विचारों के प्रचार के लिये लोकमान्य तिलक ने पत्रों के प्रकाशन की योजना बनायी। १८८१ ई० में उन्होंने 'केसरी' नामक पत्र का प्रारम्भ किया। यह पत्र मराठी भाषा में निकलता था, जिससे उनके विचार साधारण जनता तक पहुंच सकें। पर उसके बाद यह विचार सामने आया कि मराठी भाषा का पत्र तो केवल महाराष्ट्र प्रदेश मे ही लोकप्रिय हो सकता है, इसलिये अपने विचारों को अन्य प्रान्तों तक पहुँचाने के लिये 'मरहठा' नामक एक और पत्र प्रारम्भ किया गया। यह पत्र अंग्रेज़ी में प्रकाशित होता था।

पहली जेल-यात्रा—

कुछ ही दिनों बाद इन पत्रों में कोल्हापुर राज्य में अंग्रेज़ी एजेन्ट द्वारा वहाँ के राजा से कठोरतापूर्ण व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ लेख छपे। इन लेखों के कारण तिलक और आगरकर पर मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें चार-चार मास की सज़ा दी गयी। इससे तिलक और अगरकर दोनों बहुत शीघ्र सारे महाराष्ट्र में प्रसिद्ध और लोकप्रिय हो गये। यह तिलक की पहली जेल-यात्रा थी।

तिलक ने यह अनुभव किया कि देश में विदेशी सरकार हिन्दुओं और मुसलमानों के दंगे करवाकर हिन्दुओं को आतंकित करना चाहती है। तिलक यह समझते थे कि ऐसे समय हिन्दुओं के दब्बू बनकर रहने से काम न चलेगा। इससे उपद्रवियों के हाथ और मजबूत होंगे और उनका हौसला बढ़ जायगा। इसलिये अच्छा यह है कि हिन्दू संगठित होकर इतने सशक्त बनें कि मुसलमानों को उनसे छेड़छाड़ करने का साहस ही न हो। इस संगठन के लिये उन्होंने महाराष्ट्र में दो उत्सव प्रारम्भ किये।

एक 'गणपति उत्सव' और दूसरा 'शिवाजी उत्सव'। उनकी यह योजना जनता को बहुत रुची और शीघ्र ही ये दोनों उत्सव महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। इन उत्सवों में सब वर्गों और वर्णों के हिन्दू मिलकर एकत्र होते और आनन्द मनाते हैं। इन उत्सवों द्वारा जिस प्रयोजन को तिलक सिद्ध करना चाहते थे, वह पूरी तरह सफल हुआ।

सरकार से टक्कर—

१८९६ ई० मे महाराष्ट्र मे एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तिलक ने अपने समाचार-पत्रों द्वारा पीड़ित जनता की पुकार सरकार के कानों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। सरकार जनता के कष्टों को चुपचाप देखती रही। इस पर तिलक ने अपने पत्रों में सरकार की कठोर आलोचना की। उन्ही दिनों पूना में प्लेग की बीमारी भी फैलना शुरू हुई। १८९७ ई० का यह प्लेग बहुत ही भयंकर था। एक ओर तो जनता दुर्भिक्ष और प्लेग के कारण असह्य कष्ट पा रही थी, दूसरी ओर सरकार ने विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती का समारोह मनाना शुरू कर दिया। इससे जनता मे अत्यन्त क्षोभ फैल गया। उन्हीं दिनों दामोदर चापेकर ने पूना में एक अंग्रेज अफसर मिस्टर रैंड पर पिस्तौल से गोली चलायी बहुत दिनों तक चापेकर पकड़ा नहीं गया। सरकार ने अपना क्रोध तिलक पर उतारा। रैंड की मृत्यु के बाद सरकार ने पूना में जो अन्धा-धुन्ध दमन और अत्याचार किये, उनका तिलक ने अपने पत्रों में डटकर विरोध किया था। इस पर सरकार ने उन्हें राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया। आपको डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया।

विद्वानों में आदर—

इससे पूर्व लोकमान्य तिलक 'ओरयिन' नामक एक पुस्तक लिख कर प्रकाशित करवा चुके थे, जिसमें वेदों के काल के सम्बन्ध में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ढंग से विचार किया गया था। इस पुस्तक से उनकी ख्याति

विदेशों तक फैल गयी थी। जब तिलक को कठोर कारावास की सज़ा दी गयी, तो विदेशी विद्वानों ने अंग्रेज़ी सरकार से अनुरोध किया कि इतने बड़े विद्वान् के साथ सामान्य अपराधियों का सा दुर्व्यवहार न किया जाय। सरकार ने इस शर्त पर लोकमान्य तिलक को जेल से छोड़ना स्वीकार किया कि वे भविष्य में राजद्रोह न फैलाने का वचन दें। किन्तु तिलक ने ऐसा वचन देकर छूटने के बजाय जेल की यन्त्रणाएं सहना अधिक पसन्द किया। अन्त में एक साल की सज़ा भुगत चुकने के बाद सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। तिलक के जेल से छूटने पर सारे देश में खुशी मनाई गयी। उस दिन दीवाली थी। लोगों ने दीवाली पर राम-चन्द्र जी की मूर्ति की पूजा के साथ-साथ तिलक के चित्रों पर भी मालाएं चढ़ाकर अपनी श्रद्धा प्रकट की।

एक वर्ष की जेल-यातना का तिलक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था। उन दिनों की जेलें आज की सी परिष्कृत जेलें नहीं थी। तिलक का भार २४ पौड कम हो गया था। कुछ समय पश्चात् तिलक ने कांग्रेस के कार्य में उत्साहपूर्वक भाग लेना शुरू कर दिया।

रैंड की हत्या के सम्बन्ध मे इंगलैंड के एक पत्र 'ग्लोब' ने तिलक पर यह आक्षेप किया था कि इस हत्या के पीछे एक पूरा राजद्रोही संगठन विद्यमान् है और उसके कर्त्ताधर्त्ता स्वयं लोकमान्य तिलक हैं। बम्बई के एक पत्र 'टाइम्स' ने भी ऐसा ही आक्षेप तिलक पर किया था। लोकमान्य तिलक ने इन दोनों पत्रों को सूचना दी कि वह उन पर मानहानि का मुकद्दमा चलाना चाहते हैं। बम्बई के 'टाइम्स' पत्र ने तो तुरन्त अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँग ली, किन्तु 'ग्लोब' पत्र पर तिलक को मुकद्दमा चलाना पड़ा, जिसमें 'ग्लोब' हार गया और तिलक विजयी हुए।

कांग्रेस में प्रवेश—

लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस के कार्य में अधिकाधिक भाग लेना शुरू

किया। तिलक कांग्रेस को देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था समझते थे, किन्तु नरमदली नेताओं के साथ उनका बहुत मतभेद था। तिलक गरमदली विचारों के थे। तिलक यह समझते थे कि नरमदली नेता स्वराज्य की भीख माँगकर सारे राष्ट्र को अपमानित सा कर रहे हैं। नरमदली नेताओं को यह भय था कि यदि कांग्रेस की बागडोर तिलक जैसे गरमदली नेता के हाथ में चली गयी, तो कांग्रेस राजद्रोही संस्था घोषित कर दी जायगी। इसलिये जब १९०६ई० में लोकमान्य तिलक का नाम कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये प्रस्तुत किया गया, तो नरमदली नेताओं ने उसका विरोध किया। १९०७ई० मे नागपुर कांग्रेस में नरमदली और नरमदली पक्षों में आपस में हाथापाई और मारपीट तक हो गई। १९०८ई० में कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ था। वहाँ पर तो दोनों पक्षों में खुलकर लड़ाई हुई। कुर्सियां और जूते एक-दूसरे पर फैंके गये। बहुत से लोग घायल भी हुए। किन्तु इस सारे विरोध के फलस्वरूप लोकमान्य तिलक और उनके गरम दल का प्रभाव देश में अधिक और अधिक होता गया।

उन्ही दिनों बंगाल में बंग-भंग के कारण घोर असन्तोष फैल गया था और अनेक आतंकवादी युवकों ने अंग्रेज अफ़सरों पर गोलियां और बम फेंककर अपना असन्तोष प्रकट करना शुरू कर दिया था। खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर मे मजिस्ट्रेट पर बम फेंका था, किन्तु निशाना चूक जाने के कारण बम दो अग्रेज़ महिलाओं के पास जाकर पड़ा, जिससे उन दोनों की मृत्यु हो गई। सरकार आतंकवादियों को पकड़ने में असफल रही, इसलिये उसने अपना क्रोध गरमदली कांग्रेसी नेताओं पर उतारा। मद्रास के चितम्बरम् पिल्लइ और लोकमान्य तिलक को गिरफ़्तार कर लिया गया। श्री पिल्लइ को दस वर्ष की कड़ी कैद की सजा दी गयी। लोकमान्य तिलक ने अपने मुकद्दमे की पैरवी स्वयं बड़ी योग्यतापूर्वक की। किन्तु यह मुकद्दमा तो केवल एक नाटक मात्र था। परिणाम वही हुआ, जो

होना था। राजद्रोह के अपराध में उन्हें ६ वर्ष के कालेपानी की सज़ा दी गयी। जज ने अपने फैसले में कहा—"कानून की दृष्टि से तुम्हें आजीवन कालेपानी का दण्ड मिलना चाहिए, किन्तु तुम्हारी आयु को देखते हुए मैं केवल छः वर्ष के कालेपानी का दंड दे रहा हूँ।" उस समय लोकमान्य तिलक की आयु ५२ वर्ष की थी।

लोकमान्य तिलक को छः वर्ष के कालेपानी की सजा का समाचार सुनते ही सारे देश में अत्यन्त शोक छा गया। सब लोग यही समझते थे कि सरकार ने अत्यन्त अन्यायपूर्ण कार्य किया है। प्रायः सभी शहरों में हड़ताल की गयी। जिन पत्रों ने अदालत के निर्णय की अलोचना की, उन पर मुकद्दमा चलाया गया। इस प्रकार सरकार ने दमन करके लोकमान्य की गिरफ्तारी से उत्पन्न जनता के असन्तोष को कठोरतापूर्ण दबा दिया।

मांडले की जेल में—

लोकमान्य तिलक को बर्मा में मांडले की जेल में रखा गया। वहां उनके साथ सामान्य कैदियों जैसा ही कठोरतापूर्ण व्यवहार किया जाता था, परन्तु लोकमान्य ने कभी भी सरकार को किसी प्रकार की सुविधा की मांग नहीं की। शत्रु के सम्मुख दीनतापूर्वक याचना करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। अपने इस लम्बे एकान्तवास का समय उन्होंने अध्ययन और लेखन करते हुए बिताया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'गीतारहस्य' मांडले की जेल की कोठरी में ही लिखा गया था। यह ग्रंथ बाद में बहुत लोकप्रिय हुआ।

जिन दिनों तिलक जेल में थे, उन्ही दिनों उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। लोकमान्य तिलक के लिये यह एक बड़ा आघात था। बर्मा की जलवायु तथा जेल के कष्टों के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत अधिक बिगड़ चला। सरकार ने उन्हें किसी भी प्रकार सजा की अवधि बीतने से पहले छोड़ना स्वीकार न किया। अन्त में १६ जून १९१४ई० को सजा

पूरी होने पर उन्हें जेल से छोड़ा गया ।

इतने लम्बे कारावास की यन्त्रणाएं भी आपके विचारों में परिवर्तन न कर सकीं । वह जेल जाने से पूर्व जितने गरमदली थे, उतने ही जेल से वापस आने पर भी रहे ।

अब लोकमान्य तिलक कांग्रेस के नरम और गरम दलों में झगड़ा नहीं होने देना चाहते थे । इसलिये उन्होंने एनीबेसेंट के साथ मिलकर एक अलग 'होम-रूल लीग' की स्थापना की । इस नयी संस्था का संगठन करने के लिये लोकमान्य ने देश के कई प्रान्तों का दौरा किया । सरकार तिलक को फिर किसी न किसी बहाने पकड़ना चाहती थी । एक भाषण के सिलसिले में सरकार ने उनसे ४० हज़ार रुपये की जमानत मांगी, किन्तु बम्बई हाईकोर्ट ने अपना निर्णय लोकमान्य तिलक के पक्ष में दिया ।

लोकमान्य तिलक ने भारत को स्वराज्य-प्राप्ति का महान् मन्त्र दिया । उन्होंने कहा था "स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर ही रहूँगा ।" भारतीय जनता ने उनके इस मन्त्र को भली-भांति ग्रहण कर लिया था और इसीलिये अन्त में भारत स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल हुआ ।

गांधी जी और तिलक—

उन दिनों महात्मा गांधी भी भारत के राजनीतिक मंच पर आ गये थे । किन्तु गांधी जी की और लोकमान्य तिलक की नीति में बहुत अन्तर था । युद्ध के दिनों मे गांधी जी सरकार की बिना शर्त सहायता करने के पक्ष में थे । उनका कथन था कि हमें सरकार के वायदों पर विश्वास करना चाहिये, परन्तु तिलक कहीं अधिक कुशल राजनीतिज्ञ थे । उनका कथन था कि हमें सरकार के साथ वैसा ही व्यवहार करन चाहिये, जैसा वह हमारे साथ करे । किन्तु उन दिनों गांधी जी का प्रभाव तेज़ी से बढ़ रहा था, इसलिए जनता उनके पीछे ही अधिक रही ।

एक ब्रिटिश पत्रकार वैलेंटाइन शिरोल ने लोकमान्य तिलक पर अनेक निराधार आक्षेप किये थे। लोकमान्य तिलक ने इंगलैंड जाकर शिरोल पर मानहानि का दावा किया। किन्तु इस प्रश्न को अंग्रेज़ी सरकार ने अपने सम्मान का प्रश्न बना लिया। इसलिये अन्त में निर्णय लोकमान्य तिलक के विपक्ष में हुआ।

इंगलैंड में रहते हुए लोकमान्य तिलक ने वहां की पार्लियामेंट के सदस्यों में भारतीय स्वाधीनता के सम्बंध में महत्त्वपूर्ण प्रचार किया। आपने वहां अनेक सभाएं कराईं, जिनमें भारत की स्वाधीनता का पक्ष इंगलैंड की जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजी सरकार ने भारत में कठोर दमन प्रारम्भ कर दिया था। जब लोकमान्य तिलक को दमन के समाचार मिले, तो वह तुरन्त इंगलैंड से भारत लौट आये।

भारत में गांधी जी ने अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध असहयोग और सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया था किन्तु इस समय लोकमान्य की नीति यह थी कि यदि अंग्रेज़ी सरकार हम से सहयोग करना चाहती है, तो हमें उससे सहयोग करना चाहिए। उसके जो काम हमारी उन्नति में सहायक हों, उनमें हम सहयोग करेंगे; बाकी कामों मे नहीं। किन्तु गांधी जी पूर्ण असहयोग का आन्दोलन प्रारम्भ कर चुके थे।

यद्यपि लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के विचारों में परस्पर गहरा मतभेद था, फिर भी दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति अत्यन्त आदर और प्रेम था।

इस समय तक लोकमान्य की आयु ६४ वर्ष हो चुकी थी। ३१ जुलाई १९२० ई० के दिन छोटी सी बीमारी के पश्चात् आपका स्वर्गवास हो गया।

चौपाटी पर समुद्र के किनारे उनकी अन्त्येष्टि की गई। इससे पूर्व बम्बई में अन्य किसी महापुरुष की अन्त्येष्टि इतनी धूमधाम और

समारोह के साथ नहीं हुई थी। मूसलाधार वर्षा में भी लगभग तीन लाख व्यक्ति इस अन्त्येष्टि के समय उपस्थित थे।

उत्कृष्ट विद्वान् एवं लेखक—

लोकमान्य तिलक संयोग से ही राजनीति में आ पड़े थे, अन्यथा उनका जन्म सम्भवतः विद्वत्तापूर्ण अध्ययन और लेखन के लिये हुआ था। उन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं। 'ओरयिन', 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' और 'गीता-रहस्य'। ये तीनों ही पुस्तकें अपने-अपने क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हुई हैं। राजनीतिक नेता की अपेक्षा एक प्रकांड विद्वान् के रूप में लोकमान्य तिलक का महत्त्व संभवत; कहीं अधिक और कहीं अधिक चिर-स्थायी है।

लाला लाजपतराय

'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता'

लाला लाजपतराय स्वाधीनता-संग्राम के सबसे बड़े सेनानियों में से एक थे। लोकमान्य तिलक की भाँति आप भी गरमदली नेता थे। आपके ऊपर विदेशी सरकार की सदा क्रूर दृष्टि रही। अहिंसक रहते हुए सम्मुख समर में यदि किसी नेता ने वीरगति प्राप्त की, तो वह लाला जी ही थे। देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराने के लिये आपने अपार कष्ट सहे, किन्तु वे कष्ट उनके ओजस्वी व्यक्तित्व को झुका नहीं सके। उनके कारण उलटा लाला जी की तेजस्विता और भी प्रखर रूप में प्रकट हुई।

सुर्खरू होता है इन्सां आफ़तें आने के बाद।
रंग लाती है हिना पत्थर पै घिस जाने के बाद।

विपत्तियों की चोटें खाकर लाला जी का व्यक्तित्व खूब निखरा। एक देशभक्त योद्धा के रूप में उनका नाम न केवल सारे भारत में, अपितु भारत से बाहर भी विख्यात हो गया। सरकार ने जो उपाय उन्हें

कुचलने के लिये बरते, वही लाला जी के यश को बढ़ाने में सहायक हुए। जो वायु अपने झोंके से छोटे से दीपक को बुझा डालती है, वही दावानल को और भड़का देती है। लाला जी विपत्तियों के तूफ़ान से बुझ जाने वाले दीपक न थे, वह तो उनसे और भी भड़क उठने वाले दावानल थे। जीवन में उन्होंने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। किन्तु उन्हें अपने ऊपर अखंड विश्वास था, इसलिये वे सदा अविचलित भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। उसी पथ पर चलते-चलते वे बलिदान भी हो गये। किन्तु आज उनकी आत्मा प्रसन्न होगी कि जिस लक्ष्य के लिये उन्होंने इतना बलिदान किया था, वह पूर्ण हो गया है। उन्होंने जो भविष्यवाणी की थी कि "मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक-एक लाठी ब्रिटिश साम्राज्य की शवमंजूषा में गड़ने वाली एक-एक कील होगी!" अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

लाला लाजपतराय के पिता लाला राधाकृष्ण जी लुधियाना ज़िले में जगरांव नामक गांव के रहने वाले थे। पहले आप अध्यापन का काम करते थे, पर बाद में विद्यालयों के निरीक्षक बन गये थे। उन्ही के घर लाजपतराय जी का जन्म २८ जनवरी १८६५ ई० को हुआ था।

लाजपतराय जी की शिक्षा पांच-छः वर्ष की आयु से ही प्रारम्भ हो गई थी। पढ़ाई-लिखाई में वह काफी तेज़ थे। १८८० ई० में उन्होंने पंजाब और कलकत्ता की मैट्रिक परीक्षा पास करली और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुए। उन्हें सरकार से छात्रवृत्ति मिलने लगी और वह लाहौर में गवर्नमेंट कालिज में प्रविष्ट हो गये।

दो वर्ष में उन्होंने एफ० ए० और मुख्तारी की परीक्षाएँ साथ ही पास कर लीं, और जगरांव में जाकर मुख्तारी का काम करने लगे। वहां काम करते-करते उन्होंने वकालत की परीक्षा दी। उस परीक्षा में वह एक साल फेल हो गये, पर उससे अगले वर्ष बहुत अच्छे नम्बर लेकर

पास हुए। वकालत की परीक्षा पास कर लेने के बाद वह हिसार चले गये और वहां वकालत करने लगे।

सार्वजनिक सेवा का प्रारम्भ—

हिसार में आपकी वकालत अच्छी चल निकली। शीघ्र ही आपकी गणना नगर के प्रतिष्ठित लोगों में होने लगी। जीविका की ओर से निश्चिन्त होते ही लाला जी ने सार्वजनिक सेवा की ओर ध्यान देना शुरू किया। आपके पिताजी आर्य-समाज के भक्त थे। लाला जी ने स्वयं भी दयानन्द जी के व्याख्यान सुने थे और उनका लाला जी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। पंडित गुरुदत्त और लाला हंसराज के साथ लाजपतराय जी ने भी आर्य-समाज को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। लाजपतराय जी कुछ समय तक हिसार नगरपालिका के अवैतनिक मंत्री भी रहे।

१८९२ ई० में लाला जी हिसार छोड़कर लाहौर आ गये और वहीं वकालत शुरू कर दी। यहां आकर आपने डी०ए०वी० कालेज की स्थिति सुदृढ़ करने में बड़ा भाग लिया। अपनी वकालत के बाद उनके पास जो भी समय बच रहता था, वह सारा इस कालेज के कामों में ही लग जाता था।

किन्तु लाला जी में कार्यशक्ति बहुत अधिक थी। कालेज के कार्य के अतिरिक्त उन्होंने फ़ीरोज़पुर में एक अनाथालय की भी स्थापना की। इस प्रकार के सार्वजनिक सेवा के कार्यों के लिये उन्हें चन्दा तो करना ही पड़ता था, साथ ही अपने पास से भी धन देना पड़ता था। धन के लिये वह अपने सिद्धान्तों का बलिदान करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने डी०ए०वी० कालेज के लिये सरकार से आर्थिक सहायता लेने से इसलिये इनकार कर दिया, क्योंकि वह समझते थे कि सरकार से आर्थिक सहायता ले लेने के बाद उन्हें कालेज में अपने विचारों के प्रचार की स्वतन्त्रता न रह सकेगी।

दुर्भिक्ष में सहायता-कार्य—

१८९६ ई० मे उत्तरी भारत में और १८९८ ई० में राजस्थान में भयंकर दुर्भिक्ष पड़े। इन अवसरों पर लाला जी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिये काफ़ी धन एकत्र किया। इसके अतिरिक्त अकाल की विपत्ति का लाभ उठाकर ईसाई प्रचारक अनाथ बालकों तथा अन्य लोगों को ईसाई बना रहे थे। लाला जी ने इस बात को अनुभव किया और हजारों व्यक्तियों को ईसाई होने से बचाया। हिन्दू बालकों को उन्होंने अनाथालयों में भिजवाने की व्यवस्था की। इसी प्रकार १९०५ ई० में पंजाब के भयंकर भूकम्प में भी आपने पीड़ितों की सेवा की थी।

इस प्रकार लाला जी का सार्वजनिक जीवन सामाजिक क्षेत्र से प्रारम्भ हुआ था। शुरू में उनका ध्यान सामाजिक-सुधार तथा पीड़ितों की सेवा की ओर अधिक था, पर बाद में वह राजनीति के क्षेत्र में आ उतरे थे। १९०६ में कांग्रेस की ओर से एक प्रतिनिधि-मंडल इंगलैंड भेजा गया था। इस मंडल को यह काम सौंपा गया था कि यह भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के पक्ष को इंगलैंड की पार्लियामेंट के सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करे। इस प्रतिनिधि-मंडल में श्री गोपालकृष्ण गोखले और लाला लाजपतराय केवल ये दो ही सदस्य थे। वहां जाकर लाला जी ने भाषणों द्वारा तथा पत्र-पत्रिकाओं मे लेख लिखकर भारत की स्वाधीनता के लिये बहुत प्रचार किया। इंगलैंड से आप अमेरिका चले गये और अमेरिका में भारतीय स्वाधीनता के सम्बन्ध में आन्दोलन किया।

गिरफ़्तारी और कारावास—

जब लाला जी अमेरिका से वापस भारत लौटे तो यहां बंग-भंग के विरोध में उग्र आन्दोलन चल रहा था। सरकार दमन पर उतरी हुई थी। पंजाब में भी नहरों का कर बढ़ जाने के कारण अशान्ति फैली हुई थी। ऐसे समय लाला जी चुप कहां बैठने वाले थे? वे जनमत का संगठन करने में लग गये। सरकार ने कोई बहाना तक भी ढूंढने की

कोशिश नहीं की, और लाला जी को बिना कोई कारण बताये चुपचाप गिरफ़्तार करके मांडले भेज दिया। मांडले की जेल कैदियों पर होने वाले अत्याचारों के लिये बदनाम थी।

कुछ समय लाला जी के देश से निर्वासन का समाचार लोगों तक पहुँच ही न पाया। पर जब बात जनता के सामने आई तो सारे देश में असन्तोष की एक लहर फैल गई। समाचार-पत्रों में आन्दोलन हुआ। छः मास बाद ११ नवम्बर १९०७ ई० को लाला जी को भारत लाकर जेल से छोड़ दिया गया।

१९१२ ई० में महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में काले क़ानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह किया हुआ था। गोखले ने उनकी सहायता के लिये सारे भारत में धन-संग्रह करने की अपील की थी। लाला जी ने उस समय पंजाब में ४० हजार रुपया एकत्र करके गांधी जी के पास भिजवाया।

अमेरिका में आन्दोलन—

जब प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ था; उस समय लाला जी एक प्रतिनिधि-मंडल के साथ इंगलैंड गये हुए थे। प्रतिनिधि-मंडल के बाकी सदस्य तो भारत लौट आये थे, किन्तु लाला जी जापान चले गये। युद्ध छिड़ जाने के कारण सरकार ने उन्हें भारत आने की अनुमति नहीं दी। विवश होकर लाला जी अमेरिका चले गये। अमेरिका में आपके पास आय का कोई साधन नहीं था। आपको बड़ी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। परन्तु आपने यह समय चुपचाप बैठ कर खाली नहीं गंवाया। वहाँ आपने 'तरुण-भारत' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक के कारण अमेरिका की जनता आपको जान गई। आप के लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे और कई सभाएं इन्हें भाषण देने के लिये निमंत्रित करने लगीं। इससे उनकी आर्थिक समस्या हल हो गई। शायद इसीलिये लाला जी ने बाद में एक बार कहा था —"मेरी जायदाद मेरी क़लम है।"

अमेरिका में रहते हुए इन्होंने 'इंडियन होम रूल लीग' नामक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य भारत के स्वाधीनता-संग्राम को सहायता पहुँचाना था। लाला जी ने और भी कई पुस्तकें लिखीं, जिन मे से 'भारत का इंग्लैंड पर ऋण', 'टुकड़ों के लिये लड़ाई' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। उन्ही दिनों मिस मेयो ने 'मदर-इंडिया' पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमे भारत की बुराइयों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया था। लाला जी ने 'अनहैपी-इंडिया' (अभागा भारत) लिख कर उस पुस्तक का मुहतोड़ उत्तर दिया था। इस पुस्तक में उन्होंने साम्राज्यवादी अंग्रेज़ों की कुटिल नीतियों का भंडाफोड़ किया था। इसके अतिरिक्त लाला जी वहां 'यंग' नामक एक मासिक पत्र भी निकालते थे।

भारत में आगमन—

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो गया। भारतवासियों ने युद्ध में हर प्रकार से अंग्रेज़ों की सहायता की थी, इसलिये उन्हें आशा थी, कि युद्ध के बाद अंग्रेज़ भारत को कुछ न कुछ तो स्वाधीनता देगे। परन्तु उसके बदले अंग्रेजों ने मार्शल-ला. तथा रौलैट-ऐक्ट जैसे उपायों द्वारा भारत का कठोर दमन करना प्रारम्भ कर दिया। जलियांवाला बाग का प्रसिद्ध गोलीकांड भी उन्ही दिनों हुआ था। इन सब समाचारों को जानकर लाला जी को बहुत बेचैनी होती थी। उनकी इच्छा थी कि ऐसे समय अपने देशवासियों के बीच में रहें, जिससे उनके दुःख में हिस्सा बटा सकें। किन्तु सरकार उन्हें किसी तरह भारत आने की अनुमति नहीं देती थी। जब भी कभी सरकार से पूछा जाता कि लाला जी को भारत क्यों नहीं आने दिया जाता तो एक ही बंधा हुआ उत्तर मिलता कि उनका भारत आना सार्वजनिक सुरक्षा के लिये घातक होगा। वस्तुतः लाला जी से सार्वजनिक सुरक्षा को तो क्या ख़तरा होना था, पर हाँ, अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद को उनसे ख़तरा ज़रूर था। आख़िर बड़ी कठिनाई से सरकार ने उन्हें वापस आने की अनुमति दी और १९२० ई० के

फ़रवरी मास में लाला जी भारत लौट आये।

उन्हीं दिनों भारत में गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया था। किसी भी आन्दोलन में पीछे रहना लाला जी के स्वभाव के विरुद्ध था। वह भी सत्याग्रह में कूद पड़े। उन्होंने पंजाब में असहयोग का काम अपने सिर ले लिया। सरकारी नौकरियों, विद्यालयों और अदालतों का बहिष्कार किया जाने लगा। ऐसी दशा में जैसा स्वाभाविक ही था, सरकार ने १९२२ ई० के सितम्बर मास में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। उन्हें डेढ़ साल की कड़ी कैद की सज़ा दी गई।

जेल में लाला जी का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चला। सरकार को यह भय लगा कि यदि इनका देहान्त जेल में हो गया तो उसका दायित्व सरकार के सिर होगा, इसलिये उसने लाला जी को छोड़ देने में ही कल्याण समझा। परन्तु जेल से बाहर आकर उचित चिकित्सा द्वारा लाला जी स्वस्थ हो गये।

शुद्धि आन्दोलन—

इस समय सरकार हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालने की नीति बरत रही थी। साथ ही अछूतों को भी हिन्दुओं से अलग करने का षड्यन्त्र हो रहा था। सरकार के रुख और मुसलान तथा ईसाइयों की चालों के करण अछूत हिन्दू-धर्म को छोड़कर धड़ाधड़ मुसलमान और ईसाई बन रहे थे। कांग्रेस मुसलमानों को रुष्ट नहीं करना चाहती थी। उसकी दृष्टि में इस प्रश्न को उठाना साम्प्रदायिकता थी। किन्तु लाला जी, मदनमोहन मालवीय जी, तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इस ख़तरे को पहचाना। उन्होंने अपनी लोकप्रियता को ख़तरे में डाल कर भी शुद्धि आन्दोलन प्रारम्भ किया। एक ओर तो इस आन्दोलन में मुसलमान या ईसाई बने हुए हिन्दुओं को फिर शुद्ध करके हिन्दू बना लिया जाता था और दूसरी ओर हिन्दुओं में अछूतों के साथ समानता का बर्ताव करने का आग्रह किया जाता था। शुद्धि आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दुओं की

संख्या घटनी बन्द हो गई। लाला जी कांग्रेस में रहते हुए भी आर्यसमाज का काम बराबर करते रहे।

१९२३ ई० के अन्तिम दिनों में आप कांग्रेस स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हो गये और केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य निर्वाचित हुए। असेम्बली में भी लाला जी ने अपने भाषणों द्वारा सरकार से कठोर संघर्ष किया। बाद में मोतीलाल जी से कुछ मतभेद हो जाने के कारण आपने स्वराज्य-पार्टी से त्यागपत्र दे दिया और नेशनलिस्ट पार्टी के नाम से एक अलग पार्टी बनाई। इस पार्टी की ओर से खड़े होकर आप फिर असेम्बली के सदस्य निर्वाचित हुए। निर्वाचन में लाला जी की सफलता अपने व्यक्तित्व के कारण होती थी, किसी पार्टी के समर्थन के कारण नही। जनता को लाला जी पर पूरा विश्वास था।

१९२५ ई० में लाला जी कलकत्ता में अखिल-भारतीय हिन्दू-महासभा के वार्षिक अधिवेशन के सभापति बने। मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय उन नेताओं में से थे, जिन्हें देश को स्वाधीन कराने की तो चाह थी, किन्तु उसके लिये वे उचित उपायों का ही अवलम्बन करना चाहते थे। इन नेताओं का कांग्रेस की मुसलमानों को हर शर्त पर प्रसन्न करने की नीति से मतभेद था। कुछ लोगों ने उन पर साम्प्रदायिकता का आरोप भी किया; किन्तु सत्य छिपा नहीं रहता।

साइमन कमीशन का बहिष्कार—

ब्रिटिश सरकार ने १९१९ ई० में भारत के शासन-विधान में कुछ सुधार किये थे। ये सुधार बहुत ही कम और अधूरे थे। भारत का कोई भी राजनीतिक दल इनसे सन्तुष्ट नहीं था। उस समय सरकार ने वचन दिया था कि १० वर्ष बाद सरकार यह देखेगी कि भारतवासी अपना शासन आप करने योग्य हैं, या नहीं। यदि वे योग्य सिद्ध होंगे, तो सरकार भारत को स्वराज्य दे देगी। इसी वचन के अनुसार इंग्लैंड की

पार्लमेंट ने एक कमीशन की नियुक्त की, जिसका काम भारत की स्थिति की जांच करके यह बताना था कि भारत की जनता स्वराज्य के योग्य हो चुकी है, या नहीं ? इस कमीशन का अध्यक्ष सर जौन साइमन नामक एक अंग्रेज़ था, उसी के नाम पर यह कमीशन साइमन कमीशन कहलाया। इस कमीशन में एक भी सदस्य भारतीय नहीं था। यह एक तरह से भारत का अपमान था। इस से भारत की जनता ने एक होकर साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया।

जहां-जहां भी यह कमीशन पहुँचा, वहीं इसका स्वागत काले झंडों और "साइमन वापस जाओ" के नारों से हुआ। सरकार इससे खीझ उठी। इस प्रकार के प्रदर्शनों पर बर्बरता के साथ लाठियाँ चलाई गईं और घोड़े दौड़ाये गये। परन्तु जनता इस हृदयहीन दमन से बिलकुल विचलित न हुई। सब जगह प्रदर्शन ज्यों के त्यों जारी रहे।

३० अक्टूबर १९२८ ई० को यह कमीशन लाहौर पहुँचा। लाहौर लाला जी का गढ़ था। वहां कमीशन का यथोचित स्वागत न हो, यह कैसे हो सकता था ? काले झंडों के साथ एक विशाल जलूस निकाला गया। सरकार ने प्रदर्शन को रोकने के लिये शहर में धारा १४४ लगा दी। परन्तु जलूस ने उस धारा की कोई परवाह न की। दिन के दो बजे के लगभग यह जलूस स्टेशन पहुँचा। वहां बड़ी संख्या में पुलिस मौजूद थी। जलूस पर लाठियां बरसाने का आदेश हुआ।

सच्चे नेता—

सच्चे और नक़ली नेता की पहचान ऐसे ही समय होती है। लाला जी केवल मंच पर से गरजने वाले या क़लम से आग उगलने वाले नेता नहीं थे। वह तो खुले मैदान में सबसे आगे रह कर जूझने वाले सेनापति थे। पुलिस को लाठियाँ बरसाते देखकर वह और भी आगे बढ़ आये और बिना झुके, बिना मुड़े लाठियों के वार सहते रहे। सच्चे सत्याग्रही की भांति उन्होंने ज़रा भी उत्तेजना नहीं दिखाई। महात्मा जी जिसे

'वीरों की अहिंसा' कहा करते थे, वह यही थी।

उस दिन लाला जी को गहरी चोटें आईं। शाम को एक विराट सभा में उन्होंने एक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने कहा था—"मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक-एक लाठी, अंग्रेज़ी साम्राज्य की शव-मंजूसा की एक-एक कील बनेगी।"

उसी दिन से उन्हें ज्वर आने लगा। १७ दिन तक बीमार रहने के बाद १७ नवम्बर १९२८ ई० को लाला जी का स्वर्गवास हो गया।

उनके बाद से आज तक पंजाब में और कोई ऐसा नेता नहीं हुआ, जो उनका स्थान ले सकता।

लाला जी का व्यक्तित्व अद्भुत था। अपने सम्बन्ध में उन्होंने एक बार कहा था—"मेरा मज़हब हक़-परस्ती है, मेरी मिल्लत क़ौम-परस्ती है, मेरी इबादत ख़लक़-परस्ती है। मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है, मेरी जायदाद मेरी क़लम है, मेरा मन्दिर मेरा दिल है और मेरी उमंगें सदा जवान हैं।" उनके व्यक्तित्व का इससे अच्छा चित्रण कर पाना कठिन है।

माहात्मा गाँधी

'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।'

भारत भूमि में समय-समय पर एक से एक बड़े महापुरुष जन्म लेते रहे हैं यहाँ महाराज रामचन्द्र तथा महाराणा प्रताप जैसे पराक्रमी वीर हुए, कृष्ण और चाणक्य जैसे धुरन्धर राजनीतिज्ञ हुए, हरिश्चन्द्र और कर्ण जैसे सर्वस्व त्यागी दानी हुए, और वसिष्ठ, बुद्ध और शंकर जैसे तत्त्वज्ञानी हुए। परन्तु जिस एक व्यक्ति में इन सब महापुरुषों के गुणों का समन्वय हुआ, वह महात्मा गांधी थे। उनमें राम की कर्त्तव्य-परायणता, कृष्ण की दूरदर्शितापूर्ण राजनीति, कर्ण का सर्वस्वत्याग और बुद्ध की-सी तत्वदर्शिता प्रकट हुई थी। सब बड़े-बड़े महापुरुष किसी महान् उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये जन्म ग्रहण करते हैं। गांधी जी का जन्म मानो शताब्दियों से पापाधीन भारत को स्वतंत्र कराने के लिये हुआ था।
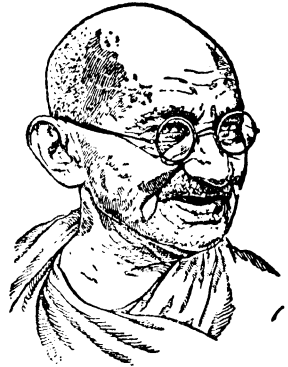
उस समय भारत अंग्रेजों के अधीन था, जिनके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। उनकी शक्ति का आतंक सारे संसार में था। उनसे

लड़कर जीत जाना तो दूर, उन्हें चुनौती तक देने का साहस बड़े से बड़े शक्तिशाली राज्यों में भी नहीं था। उनकी कूटनीति का लोहा सारी दुनियां मानती थी, फिर भी इतने बड़े साम्राज्य को गांधी जी ने न केवल चुनौती दी, किन्तु अपने जीवन काल में ही बिना सेना और हथियारों के उसे परास्त करके भारत को स्वाधीन करके दिखा दिया। यह बीसवीं शदी का एक महान् चमत्कार था।

जन्म और बाल्य-काल—

गांधी जी के पिता कर्मचन्द गांधी पोरबन्दर तथा राजकोट के दीवान थे। वह बहुत सज्जन तथा साधु स्वभाव के पुरुष थे। उनकी पत्नी, गांधी जी की माता बहुत ही साध्वी तथा आचार-परायणा महिला थी। उन्ही के यहां दो अक्तूबर १८६९ को गांधी जी का जन्म हुआ। उनका नाम मोहनदास रखा गया। गुजरात की प्रथा के अनुसार लोग अपने नाम के साथ पिता का नाम तथा जाति भी जोड़ते हैं, अतः इनका पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी पड़ा।

गांधी जी पर अपने पिता की अपेक्षा अपनी माता का अधिक प्रभाव पड़ा। उनकी माता बहुत धर्मनिष्ठ तथा भावुक प्रकृति की थी। वह पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करती और नित्य वैष्णव मन्दिर में जाती थीं। उनके विषय में गांधी जी ने स्वयं-लिखा है;—"जब से मैंने होश संभाला है, मुझे स्मरण नही कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन से कठिन व्रत वह करती और उसे निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत कभी न छोड़ती।

"एक चातुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे में हम लड़के लोग आकाश की ओर देखा करते कि कब सूर्य दिखाई पड़े और मां खाना खाए। सब लोग जानते हैं कि चौमासे में अनेक बार सूर्य के दर्शन कठिनता से होते हैं। मुझे ऐसे दिनों की आज तक स्मृति है, जब कि

हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है। 'मां, मां, वह सूरज निकला है।' और जब तक मां जल्दी-जल्दी दौड़ कर आई कि सूर्य बादलों में छिप गया। मां यह कहती हुई लौट जाती कि 'खैर कोई बात नहीं। ईश्वर नही चाहता कि आज भोजन प्राप्त हो।' और वह फिर अपने कामों में लग जाती।"

इस प्रकार गांधी जी ने अपने जीवन के सबसे बड़े पाठ दृढ़व्रतित्त्व तथा ईश्वर पर अडिग विश्वास बचपन में अपनी माता से ही सीखे थे। इन पाठों को उन्होंने भयंकर से भयंकर विपत्ति आने पर भी भुलाया नही। उन्होंने बाल्यकाल में ही सत्य पर दृढ़ रहने का संकल्प किया था और तरह-तरह के प्रलोभन तथा भय उपस्थित होने पर भी सत्य को उन्होंने छोड़ा नही। आत्मकथा में उन्होंने एक छोटी-सी परन्तु महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है—

"एक बार स्कूलों के निरीक्षक श्रीयुत जाइल्स हमारे स्कूल का निरीक्षण करने के लिये आये। उन्होंने अक्षर-विन्यास (हिज्जे) की परीक्षा करने के लिये पांच शब्द लिखवाये। इनमें से एक 'कैटल' था। मेरा इस शब्द का अक्षर-विन्यास अशुद्ध था। अध्यापक ने मुझे जूते की नोंक से इशारा करके उसे शुद्ध करलेने की प्रेरणा की। पर मैंने वैसा न किया। यह बात मेरी कल्पना से भी परे की थी कि मेरा अध्यापक मुझे पड़ौसी छात्र की स्लेट से नकल करने की प्रेरणा करे; क्योंकि मेरे विचार में वह इसलिये खड़ा किया गया था कि हम नकल न कर सकें। परिणाम यह निकला कि मेरे सिवाय और सब छात्रों का अक्षर-विन्यास शुद्ध था। केवल मै ही मूर्ख सिद्ध हुआ। पीछे अध्यापक ने मुझे मेरी मूर्खता समझाने का यत्न किया, किन्तु व्यर्थ। मैं नकल की कला कभी न सीख सका।"

उनकी सत्य में इस अचल निष्ठा ने उनके जीवन को बहुत बल प्रदान किया। उनके विरोधियों को भी उनकी निष्कपटता या सचाई में कोई सन्देह नही था। बुद्धि अथवा बल में अपने अन्य साथियों से अधिक न

होते हुए भी वह केवल एक इसी गुण के कारण उन सबसे बहुत अधिक महान् बन गये थे ।

केवल सत्य ही नही, चरित्र-निर्माण की अन्य सभी बातों पर गांधी जी का विशेष ध्यान रहता था। सदाचार के किसी भी नियम का उल्लंघन करने पर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होता था, यहां तक कि उन्हें रुलाई आ जाती थी ।

विद्यालय के शिक्षा-काल में गांधी जी में और ऐसा कोई विलक्षण गुण दिखाई नहीं पड़ता था, जिससे यह अनुमान हो सकता कि किसी दिन वह इतने बड़े नेता बन जायंगे ।

इंगलैंड में शिक्षा—

मैट्रिक परीक्षा पास करके गांधी जी बैरिस्टरी की परीक्षा पास करने के लिये इंग्लैंड चले गये। उनकी माता को उनके विदेश जाने में आपत्ति थी, क्योंकि उनका विचार था कि विदेश जाने से व्यक्ति का आचार बिगड़ जाता है। पर जब गांधी जी ने उनके सामने प्रतिज्ञा की कि "मैं विदेश में जाकर भी मांस-मदिरा तथा अनाचार से दूर रहूँगा तो उन्होंने गांधी जी को विदेश जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। यह देखते हुए कि गांधी जी ने उस समय यौवन में पैर रखा ही था, उनकी यह प्रतिज्ञा बहुत बड़ी थी। विदेश में जाने पर उनके सामने प्रलोभन भी बहुत आये, परन्तु माँ के सम्मुख की हुई उस प्रतिज्ञा की उन्होंने सर्वदा रक्षा की, और उस प्रतिज्ञा ने उनकी पतन से रक्षा की।

यूरोप के अन्य देशों की भांति इंग्लैंड में मांस-भोजन का बहुत अधिक प्रचार है। निरामिषभोजियों को वहां बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि अच्छा निरामिष भोजन तभी प्राप्त हो सकता है जब कि व्यक्ति स्वयं भोजन बनाये। इसी प्रकार वहां मदिरा भी पानी की तरफ पी जाती है। परन्तु गांधी जा सब तरह की असुविधाएँ सह कर भी इन से दूर ही रहे।

लंदन में रहते हुए गांधी जी ने ईसाइयों की धर्मपुस्तक बाइबिल भी पढ़ी तथा अन्य अनेक पुस्तकों से ईसाइयत का अध्ययन किया। श्रीमती ऐनी बैसेंट से परिचय होने पर उन्होंने थियासोफ़ी के विषय मे भी ज्ञान प्राप्त किया। अनेक धर्मों का अध्ययन करने से उनकी मनोवृत्ति उदार हो गई और उन्होंने सब धर्मों में समान रूप से पाई जाने वाली अच्छाइयों को अपनाना तथा उनकी प्रशंसा करना प्रारम्भ किया।

चार वर्षों में बैरिस्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण करके गांधी जी भारत वापस आ गये। उन्होंने राजकोट में वकालत प्रारम्भ की। लेकिन इस धन्धे मे उन्हें विशेष सफलता न हुई। बहुत संभव था कि इस असफलता का उनके मन पर बुरा प्रभाव पड़ता, परन्तु उन्हीं दिनों पोरबन्दर की एक कम्पनी ने उन्हें अपने मुकद्दमें के सिलसिले मे दक्षिणी अफ्रीका भेज दिया। वहां पहुँचकर गांधी जी ने जो कुछ देखा, उससे उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। अदालती वकालत से अधिक महत्त्वपूर्ण काम उन्हें शोपित, पीड़ित और अपमानित जनता की वकालत करना प्रतीत हुआ और उसके बाद वे सारे जीवन-भर इसी काम में लगे रहे।

दक्षिणी अफ्रीका में बहुत से भारतीय कुली मजदूरों का काम करने के लिये भारत से ले जाये गये थे। ये लोग वहां गोरों के गुलामों की तरह काम करते थे ओर गोरे लोग अपनी सफेद चमड़ी के घमंड में इन लोगों से बहुत ही बुरा व्यवहार करते थे। गोरे लोगों ने उस समय वहां काले लोगों पर तरह-तरह के अपमानजनक प्रतिबंध लगाये हुये थे, और ऐसे बहुत मे प्रतिबध इस समय भी वहां पर लगे हुए हैं, जिन्हें कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति सह नहीं सकता था। फिर भी वे कुली मजदूरों के रूप में गये हुये मज़दूर उन्हें सर झुका कर सहते चले जाते थे। वे किसी तरह उन प्रतिबंधों के विरुद्ध बग़ावत भी कर सकते हैं, यह बात स्वप्न में भी उनके मन में नहीं आती थी। और न गोरे लोग ही यह सोच सकते थे कि ये लोग सिर उठा सकते हैं। पर अकारण सिर झुका

कर रहना गांधी जी की प्रकृति में नहीं था।

डरबन के न्यायालय में प्रविष्ट होते ही मजिस्ट्रेट ने उनसे पगड़ी उतारने को कहा। गांधी जी ने पगड़ी उतारना स्वीकार न किया और वे बिना काम पूरा किये ही अदालत से चले आये। इसी प्रकार गांधी जी प्रिटोरिया जाते समय पहले दर्जे का टिकट ले पहले दर्जे के डब्बे में बैठे थे, पर गोरा न होने के कारण उन्हें उस डब्बे में से निकाल दिया गया।

इस प्रकार के अन्यायपूर्ण अपमानों के कारण गांधी जी के मन को बड़ी चोट पहुँची और इनके प्रतिकार के लिये संघर्ष करने के उद्देश्य से उन्होंने अफ्रीका में ही रहने का निश्चय कर लिया और १८९४ में उन्होंने 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' की नींव डाली, जो अब तक भी भारतीयों के अधिकारों के लिये दृढ़तापूर्वक संघर्ष कर रही है।

दो वर्ष बाद गांधी जी भारत आये और यहां पर उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति के विषय में लोगों को जानकारी दी और लोकमत को जाग्रत किया। यहाँ वह छः मास तक रहे। जब वह अन्य ८०० भारतीयों के साथ वापस अफ्रीका लौटे, तो वहां की सरकार ने उन सब को २३ दिन तक जहाज़ से उतरने ही न दिया। उसके बाद जब उन्हें जहाज़ से उतरने की अनुमति मिली, तो गोरे गुंडों ने उन पर हमला कर दिया। उन पर सड़े हुए अंडे फेंके गये, उनकी पगड़ी उतार कर फेंक दी गई और उन्हें बहुत बुरी तरह पीटा गया। बहुत संभव था कि उसी दिन गोरे लोग उन्हें मार डालते, पर एक पुलिस अफ़सर की पत्नी ने उस दिन उनकी जान बचाई।

नई विचार-दिशा—

इन्हीं दिनों गांधी जी को प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक जान रस्किन की 'अंटू दिस लास्ट' पढ़ने का अवसर मिला, जिसने उनकी विचार-दिशा

एक दम ही पलट दी। इस पुस्तक से गांधी जी ने निम्नलिखित बड़ी शिक्षाएँ लीं—

(१) व्यक्ति की अपनी भलाई सबकी भलाई में ही है।

(२) क्योंकि सबको अपने-अपने धंधे से जीविका उपार्जन करने का अधिकार है, अतः वकील के पेशे का भी उतना ही मूल्य है, जितना कि नाई के पेशे का, उस से अधिक नही।

(३) किसानों और मज़दूरों के समान श्रमपूर्ण जीवन ही स्वीकार करना उचित्त है।

इस पुस्तक ने गांधी जी के जीवन में कायापलट कर दिया और वह अपने जीवन को साधनामय बनाने में जुट गये।

दक्षिणी अफ्रीका में गोरों के अत्याचारों का प्रतिरोध करने के लिये बड़े मनन और विचार के पश्चात् एक नवीन शस्त्र का आविष्कार किया वह था सत्याग्रह। इसका अर्थ था अन्याय का विरोध करना, चाहे कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें, फिर भी सत्य पर अचल रहना। इसके साथ ही आपने अहिसा पर भी बल दिया अर्थात् यदि शत्रु हमें कष्ट भी दे तो भी हम अहिंसक बने रहें और बदले में उस पर हमला न करें। इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए गांधी जी के नेतृत्व में वहाँ के भारतीयों ने कानून भंग करके जेल जाना और वहां के कष्ट सहना स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि बहुत शीघ्र ही दक्षिण अफ्रीका की सरकार को गाँधी जी के आगे घुटने टेक देने पड़े और भारतीयों की मांगे स्वीकार कर ली गईं।

भारतीय राजनीति में—

दक्षिणी अफ्रीका में ऐसी आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करने के बाद गांधी जी भारत लौट आये। उनकी ख्याति भारत में भी फैल चुकी थी। उस समय कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। जैसे श्रीकृष्ण ने पाँडवों के राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने का काम अपने सिर

लिया था, उसी तरह इस अधिवेशन में गाँधी जी ने प्रतिनिधियों के कैम्पों में सफाई आदि का काम एक साधारण स्वयंसेवक की भाँति किया, जिसका अन्य लोगों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा ।

अपने जीवन को साधनामय बनाने के साथ-साथ गांधी जी को लोक-सेवा की भी लगन लग चुकी थी । देश की उन्नति तथा जनता की सेवा के लिये अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिये उन्होंने साबरमति में 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना की और अपने २५ साथियों के साथ जीवन को पवित्र बनाने की साधना प्रारम्भ की ।

गांधी जो छुआछूत को देश के लिये बहुत हानिकारक समझते थे । उनके विचार से सब मनुष्य परमात्मा के पुत्र होने के कारण भाई-भाई थे और उनमे किसी प्रकार का ऊँच-नीच का प्रश्न नहीं उठता था । अतः उन्होंने अपने आश्रम में एक हरिजन परिवार को भी आश्रय दिया । पर उस समय का समाज हरिजनों को अस्पृश्य मानता था, अतः गाँधी जी के बहुत से हिन्दू मित्र इस बात से नाराज़ हो गये और उन्होंने आश्रम को सहायता देनी बन्द कर दी । परन्तु गाँधी जी का ईश्वर में अचल विश्वास था । वह भला इस तरह की कठिनाइयों से कहाँ हार मानने वाले थे ! हरिजन परिवार को उन्होंने अपने आश्रम में ज्यों का त्यों बनाये रखा । अन्त में एक दिन कोई अज्ञात सेठ आकर उन्हें तेरह हज़ार रुपये दे गया, जिससे आश्रम की आर्थिक कठिनाई बहुत समय के लिये टल गई ।

भारत में सत्याग्रह—

भारत की दशा भी दक्षिण अफ्रीका से कुछ अच्छी नहीं थी । यहाँ पर भी अंग्रेज़ जनता को बुरी तरह चूस रहे थे और भारतीयों पर मनमाने अत्याचार करते थे । इन अत्याचारों के विरुद्ध कांग्रेस बड़ी विनम्र भाषा में प्रस्ताव पास कर देती थी और क्रान्तिकारी लोग हिंसा द्वारा इन अत्याचारों का बदला लेना चाहते थे । परन्तु जनता को जाग्रत

करके इन अत्याचारों के विरुद्ध खड़ा करने का कोई प्रयत्न उस समय तक नहीं हुआ था। गाँधी जी ने लोगों के सामने अहिंसक रहकर अन्यायपूर्ण क़ानूनों को भंग करने का कार्यक्रम रखा। उन्होंने कहा—"जिस क़ानून को हम अनुचित समझते हैं, उसे हमें शान्त रहकर तोड़ना चाहिये। सरकार उस दशा में हम पर अत्याचार भी करे, तो भी हमें उत्तेजित नहीं होना चाहिये। यदि उस क़ानून भंग के लिये सरकार हमें जेल में भी डाले, तो हमें सहर्ष जेल जाने को भी तैयार रहना चाहिये।" क्रान्तिकारियों की तरह बम फेंकना तथा पिस्तौल से अत्याचारी को गोली मार देना हर किसी साधारण व्यक्ति के लिये संभव नहीं था, पर सत्याग्रह कर सकना लोगों के लिये अपेक्षाकृत सरल बात थी।

अपने विचारों के प्रचार के लिये गांधी जी ने पहले 'यंग इंडिया' नाम का साप्ताहिक अखबार निकाला। बाद में इस अखबार के बन्द हो जाने पर उन्होंने अंग्रेज़ी में 'हरिजन', हिन्दी में 'हरिजन-सेवक' और गुजराती में 'हरिजन-बन्धु' नामक साप्ताहिक-पत्र निकालने शुरू किये। इन अखबारों के द्वारा गांधी जी अपनी आवाज़ जनता तक पहुँचाने लगे।

सत्याग्रह और स्वदेशी आन्दोलन—

गांधी जी भारत की राजनीति में अपना प्रमुख स्थान बना चुके थे। जब उन्होंने देखा कि जनता उनके आदेशों के अनुसार चलने को तैयार है, तो उन्होंने सरकार के अत्याचारों के खिलाफ मोर्चा लेने का निश्चय कर लिया और कानून तोड़ कर सत्याग्रह कर दिया। इस सत्याग्रह में जनता ने गांधी जी का पूरा साथ दिया और देश-भर में सत्याग्रह की धूम मच गई। हज़ारों आदमी जेलों में गये। आख़िर सरकार को भी झुकना पड़ा। इस आन्दोलन का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ

कि जनता में जाग्रति फैल गई और सब लोग यह समझने कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ।

गांधी जी ने कई बार सत्याग्रह प्रारम्भ किये और स्थगित किये, परन्तु आज़ादी की लड़ाई एक बार शुरू होकर बिना रुके चलती ही रही । सत्याग्रह और अहिंसा से गांधी जी ने एक और प्रबल शस्त्र का आविष्कार किया और वह था—स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार । इससे विदेशी माल भारत में आना कम हुआ और स्वाधीनता की दिशा में भारी प्रगति हुई ।

प्रथम महायुद्ध में गांधी जी ने अंग्रेजों का साथ दिया था, परन्तु अंग्रेज़ों ने देश को उसका बदला रौलट एक्ट और जलियांवाला बाग के हत्याकांड द्वारा चुकाया । अतः द्वितीय महायुद्ध शुरू होने पर गांधी जी की सलाह से कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" का नारा लगाया । नेता लोग क़ैद कर लिये गये । गांधी जी भी इनमें थे । नेताओं के अभाव में जनता ने अंग्रेज़ी शासन को उखाड़ने के लिये जो कुछ भी हो सका किया, परन्तु सरकार ने कठोरता से उस आन्दोलन को कुचल दिया । जेल में रहते हुए गांधी जी ने २१ दिन का अनशन किया, जिससे सारे संसार मे चिन्ता उत्पन्न हो गई । पर गांधी जी इस अग्निपरीक्षा में से सकुशल उत्तीर्ण होकर निकल आये ।

नोआखाली की शान्तियात्रा—

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेज़ों ने यह उचित समझा कि वे भारत को स्वाधीन कर दें । परन्तु जाने से पहले वे भारत को दो टुकड़ों में बांट गये—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान । देश के इस विभाजन के समय बड़े दंगे हुए और लाखों की संख्या में लोगों को एक प्रदेश छोड़ कर दूसरे में जाने को बाधित होना पड़ा । गांधी जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े समर्थक थे । वे इस प्रकार के निरर्थक रक्तपात को देखकर दुःखीहोते थे और इसे रोकने के लिये उन्होंने यथाशक्ति प्रयत्न किया । पूर्वी

बंगाल में, जहां हिन्दुओं पर भयंकर अत्याचार किये गये थे, उन्होंने पैदल गाँव-गाँव भ्रमण किया, जिससे भयभीत और पीड़ित लोगों को सान्त्वना मिले। उनकी यह नोआखाली-यात्रा संसार में अपूर्व और मर्मस्पर्शिनी थी।

पूर्वी बंगाल से लौटकर वह दिल्ली आये। यहाँ भी वातावरण बहुत उत्तेजित था। उस हिंसा और मारकाट के वातावरण में लोगों को गांधी जी की अहिंसा और प्रेम की वाणी भी कड़वी लगती थी। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे थे। उस समय गांधी जी का यह कथन कि "हिन्दुस्तान में हमें पाकिस्तान की नकल नहीं करनी है; पाकिस्तान में चाहे जो हो, पर यहाँ हमें मुसलमानों को भाइयों की ही तरह रखना चाहिये", बहुत से लोगों को बुरा लगता था। कष्ट और मुसीबतों से बेचैन लोग अपना होश-हवाश खो बैठे थे और जिन पर मुसीबत नहीं भी आई थी, वे भी विपत्तिग्रस्त लोगों को देख-देखकर उत्तेजित हो उठे थे। गांधी जी भी लोगों के मन की इस दशा को जानते थे, पर जिसे वे उचित समझें, उससे डिगना तो उन्होंने सीखा ही न था। अतः वे नित्य अपनी प्रार्थना-सभाओं में लोगों को विचार से काम लेने का उपदेश देते थे। एक दिन उनकी प्रार्थना-सभा के पास एक बम फटा, जो कि आने वाले तूफान की चेतावनी के रूप में था। परन्तु गांधी जी ने उसकी बिलकुल परवाह न की। उनके प्रार्थना-प्रवचन यथापूर्वक चलते रहे। जिस व्यक्ति की गति को सर्वसाधन-सम्पन्न अंग्रेज़ी सरकार अपने सब हथियारों के जोर से भी न रोक सकी थी, उसकी गति एक मामूली बम से क्या रुद्ध होती? ३१ जनवरी सन् १९४८ ई० को उन्हें एक युवक नाथूराम विनायक गोडसे ने पिस्तौल मार दी। गोडसे को वहीं पकड़ लिया गया। उस पर मुकद्दमा चलाया गया और मनुष्य हत्या के अभियोग में उसे फाँसी दे दी गई।

गांधी जी की मृत्यु से सारा देश शोकसागर में डूब गया। प्रत्येक

परिवार में ऐसा अनुभव हुआ, जैसे उस परिवार का ही कोई बड़ा व्यक्ति जाता रहा हो। मृत्यु का शोक देश में तेरह दिन तक मनाया जाता रहा।

"गांधी जी इतने महान् थे कि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों को शायद यह विश्वास करना कठिन हो जाय कि इतना महान् कोई नेता सचमुच पृथ्वीतल पर कभी जीवित भी था।" इन शब्दों में संसार के महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन ने उन्हें अपनी श्रद्धांजलि दी थी।

गांधी जी की शिक्षाएं—

(१) **सत्य—**गांधी जी जीवन में सबसे अधिक महत्त्व सत्य को देते थे। सत्य को वह ईश्वर कहते थे। उनका कथन था कि सच्चे साधनों से ही सच्चा ध्येय प्राप्त किया जा सकता है।

(२) **प्रेम और अहिंसा**—प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना मनुष्य का धर्म है। यदि कोई व्यक्ति कोई अनुचित काम करता है, अथवा हमें हानि पहुंचाता है, तो हमें प्रेम द्वारा उसका हृदय परिवर्तन करके उसे ठीक मार्ग पर लाना चाहिये। हिंसा का उत्तर हिंसा से देने से शान्ति कभी नही हो सकती। आग पानी से ही बुझ सकती है, आग से नही। साथ ही उनका कहना था कि हमारी अहिंसा वीरों की अहिंसा होनी चाहिये, कायरों की नहीं।

(३) **अस्पृश्यता-निवारण**—अस्पृश्यता पाप है। किसी व्यक्ति की पवित्रता या अपवित्रता का फैसला उसके पेशे से नहीं करना चाहिये। छुआछूत से हिन्दू-समाज को अपार क्षति पहुँची है।

(४) **हिन्दू-मुस्लिम एकता—**गांधी जी का विचार था कि देश की उन्नति हिन्दू और मुसलमानों की एकता से ही हो सकती है।

(५) **स्वदेशी का प्रयोग**—अपने देश की उन्नति के लिये स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना ही उचित है। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार से भी देश के स्वाधीनता-युद्ध को बहुत बल प्राप्त हुआ।

(६) **गृह-उद्योग**—चर्खा और खादी का प्रयोग गाँधी जी ने जहाँ स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के लिये करने को कहा, वहाँ उनका विचार यह भी था कि मशीन की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये और बड़ी-बड़ी मिलों की अपेक्षा गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना उचित है।

(७) **सत्याग्रह और अनशन**—अपनी उचित बात को मनवाने के लिये व्यक्ति को प्राण देने तक के लिये तैयार रहना चाहिये। गाँधी जी का विचार था कि यदि व्यक्ति का अपना मन शुद्ध हो, तो कोई कारण नहीं कि उसकी उचित बात को लोग क्यों न मान लें। किसी बड़े कार्य के लिये दूसरों के प्राण लेने से अधिक वीरता अपने प्राण दे देने में है।

नेताजी सुभाषचन्द्र वसु

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

भारत के स्वाधीनता-यज्ञ में जितनी भी आहुतियां पड़ीं सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, नेताजी सुभाष की ही थी। देश को स्वाधीन कराने की जैसी तीव्र कामना और व्याकुलता नेताजी के जीवन में दिखाई पड़ी, वैसी कम ही दिखाई पड़ती है। यद्यपि उनका रोगग्रस्त शरीर उनके कार्य में बाधक था, फिर भी ऐसा प्रतीत होता कि जैसे वे आत्मबल से अपने रोगग्रस्त शरीर को भी सचेष्ट बनाये रखते थे। उनका त्याग और साहस अनुपम था। उनके चरित्र में यह अद्भुत शक्ति थी कि वे अपने अनुयायियों को भी बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये तैयार कर सकते थे।

सुभाष बाबू का जन्म उड़ीसा राज्य में कटक में २६ जनवरी १८९७ ई० को हुआ था। उनके पिता सरकारी वकील थे, इसलिये सुभाष बाबू

की शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ से ही बहुत अच्छी होती रही ।

किन्तु सुभाष बाबू के स्वभाव में अद्भुत प्रतिभा के साथ-साथ कुछ वैराग्य का अंश भी विद्यमान् था । वे अपनी कक्षा में तो सर्व-प्रथम रहते ही थे, किन्तु सूक्ष्म चिन्तन की प्रवृत्ति भी उनमें बीच-बीच में दिखाई पड़ती थी । एक बार वह बिना कुछ कहे घर से निकल गये और हिमालय के प्रदेशों में काफी दिन तक भ्रमण करते रहे । किन्तु कुछ समय बाद उनकी विचारधारा बदली और फिर घर लौट आये ।

अपमान सह्य नहीं—

मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह कलकत्ता में प्रेजीडैन्सी कालिज में प्रविष्ट हुए । यहां पर एक महत्त्वपूर्ण घटना उनके जीवन में घटी । एक अंग्रेज प्रोफेसर ने एक दिन भारतीयों के सम्बन्ध में कुछ अपमानजनक शब्द कहे । इस पर कक्षा में कुछ गरमा-गरमी हो गयी और सुभाष बाबू के साथ उस प्रोफेसर की हाथापाई तक हो गयी । बाद में इसी अपराध में उन्हें कालिज से निकाल दिया गया । कालिज जीवन की यह घटना उनकी उत्कट स्वाभिमान और देशभक्ति की भावना की परिचायक है ।

१९१९ ई० में बी. ए. पास करने के बाद सुभाष बाबू भारतीय प्रशाशन सेवा की परीक्षा देने के लिये इंग्लैंड गये । इस परीक्षा में सफलता प्राप्त करके जब वे भारत लौटे, तो उन्हें अच्छी से अच्छी सरकारी नौकरी अनायास प्राप्त हो सकती थी, क्योंकि उन दिनों भारतीय प्रशाशन सेवा की परीक्षा पास करने वाले भारतीय बहुत थोड़े होते थे । परन्तु सुभाष बाबू का जन्म सरकारी नौकरी करने के लिये नहीं हुआ था ।

सरकारी नौकरी का मोह छोड़ा—

जब सुभाष बाबू भारत लौटे, उस समय देश में राजनीतिक आन्दोलन जोर-शोर से चल रहा था । पंजाब में जलियांवाला बाग का गोलीकांड हो चुका था और गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग और सत्याग्रह

का आन्दोलन जोर-शोर से चल रहा था। उन दिनों बंगाल में देशबन्धु चितरंजनदास बहुत बड़े राष्ट्रीय नेता थे। सुभाष बाबू ने भी सरकारी नौकरी का मोह त्याग कर देशबन्धु चितरंजनदास का अनुयायी बनना स्वीकार किया। शीघ्र ही सुभाष बाबू की प्रबन्ध-कुशलता और संगठन की क्षमता लोगों की दृष्टि में आने लगी और वे कांग्रेस स्वयंसेवक दल के अध्यक्ष बना दिये गये। उन्हीं दिनों प्रिंस आफ वेल्स का भारत में आगमन हुआ था। उसके आगमन का बहिष्कार सारे देश में किया गया। बंगाल में सुभाष बाबू ने भी इस बहिष्कार का संगठन किया था। इस सम्बन्ध में उन्हें गिरफ्तार कर लिया और छः महीने की कड़ी कैद की सजा दी गयी।

गिरफ़्तार और नजरबन्द—

१९२२ में उत्तरी बंगाल में बहुत जोरदार बाढ़ आई थी। उन दिनों सुभाष बाबू ने बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जिससे शीघ्र ही वे देश की जनता और नेताओं की दृष्टि में एक कुशल प्रबन्धक के रूप में सामने आये। दो वर्ष पश्चात् जब देशबन्धु चितरंजनदास कलकत्ता कारपोरेशन के मेयर बने, तब सुभाष बाबू को कलकत्ता का चीफ एग्जीक्यूटिव अफसर नियुक्त किया गया। किन्तु सुभाष बाबू पर सरकार की क्रूर दृष्टि पड़ चुकी थी। वह उन्हें किसी प्रकार कैद करना चाहती थी, किन्तु कैद करने के लिये कोई उचित बहाना उसे नहीं सूझ रहा था। अन्त में सरकार ने १८७३ ई० के बंगाल आर्डिनन्स के अधीन आपको नज़रबन्द कर लिया।

जेल में रहते हुए सुभाष बाबू का स्वास्थ्य बहुत गिर गया। यहां तक कि अन्त में तो उन्हें क्षय रोग भी होगया। सरकार उन्हें इस शर्त पर छोड़ने को तैयार थी कि वे भविष्य में राजनीति में भाग न लेने का वचन दें। किन्तु सुभाष ने ऐसा वचन देकर छूटना स्वीकार न किया।

जब उनकी दशा बहुत बिगड़ गई तब सरकार ने उन्हें छोड़ा। यह बात १५ मई सन् १९२७ ई० की है।

जेल से छूटने के बाद सुभाष बाबू को अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिये विश्राम की अत्यधिक आवश्यकता थी। किन्तु सुभाष बाबू ने काम सामने रहते विश्राम करना सीखा ही नही था। ज्योंही वे कुछ स्वस्थ हुए, त्योंही वे फिर राजनीतिक कार्य में जुट गये।

जनता ने सुभाष बाबू की सेवाओं का उचित सम्मान किया और सन् १९२९ ई० में सुभाष बाबू कलकत्ता कारपोरेशन के मेयर निर्वाचित हुए। २६ जनवरी के दिन स्वाधीनता दिवस मनाने के लिये सुभाष बाबू ने एक जलूस का नेतृत्व किया। सरकार दमन पर उतारू थी। जलूस पर सशस्त्र पुलिस ने आक्रमण किया और लोंगों पर निर्दयतापूर्वक लाठियां बरसायी गयी। सुभाष बाबू को गिरफ़्तार करके फिर एक साल के लिये जे़ल भेज दिया गया।

जेल मे सुभाष बाबू फिर बीमार हो गये। क्षय के रोगी होने के कारण आपका स्वास्थ्य पहले ही काफी गिरा हुआ था। जेल के कठिन जीवन मे रोग ने विकराल रूप धारण कर लिया। फिर भी सरकार उन्हें छोड़ने को तैयार न हुई। अन्त में सरकार ने उन्हें इस शर्त पर जेल से छोड़ा कि वे चिकित्सा कराने के लिये सीधे स्विटजरलैंड चले जायेगे।

यूरोप यात्रा—

इस प्रकार सुभाष बाबू स्वास्थ्य सुधार के लिये स्विटजरलैंड चले गये। वहां उन्हें यूरोप के विभिन्न नेताओं से मिलने का अवसर मिला। आयरलैंड के नेता डी० वैलरा, जर्मनी के नेता हिटलर और इटली के नेता मुसोलिनी से भी आपने भेंट की उनके इस समय बने हुए मित्रता सम्बन्ध भविष्य में उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुए।

ज्योंही सुभाष बाबू का स्वास्थ्य कुछ सुधरा, त्योंही उन्होंने फिर भारत लौटने का निश्चय किया। किन्तु सरकार उन्हें भारत में स्वतन्त्र होकर रहने देने को तैयार नहीं थी। ज्योंही सुभाष बाबू बम्बई पहुँचे, त्योंही उन्हें फिर गिरफ़्तार कर लिया गया।

यह कुछ अद्भुत-सी ही बात थी कि ज्योंही सुभाष बाबू जेल में पहुंचते थे, त्योंही उनका स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ने लगता था और ज्योंही वह जेल बाहर आते थे, त्योंही वह तेजी से सुधर जाता था। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे स्वास्थ्य और रोग दोनों ही सुभाष के अपने बस मे थे और वे जब चाहें स्वस्थ या रोगी हो सकते थे। इस बार फिर जेल में जाने पर सुभाष बाबू फिर रोगी हो गये और १७ मार्च १९३६ ई० को विवश होकर सरकार ने आपको जेल से छोड़ दिया।

कांग्रेस के अध्यक्ष—

स्वास्थ्य-सुधार के लिये उन्हें एक बार फिर विदेश जाना पड़ा। इस बार यूरोप मे रह कर अपने भारतीय स्वाधीनता के लिये काफी प्रचार किया। १९३८ ई० में जब वे यूरोप में थे, तभी उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया और वे भारत लौट आये।

हरिपुरा कांग्रेस में १९३८ई० में सुभाष बाबू ने अन्तर्राष्ट्रिय परिस्थिति पर अपने विचार प्रकट किये। उन दिनों यूरोप में युद्ध की घटाएं घुमड़ रही थीं। सुभाष बाबू का मत था कि यदि इसबार युद्ध हो, तो हमें उससे पूरा लाभ उठा कर देश को स्वाधीन कराने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु कांग्रेस के अनेक बड़े-बड़े नेताओं का मत इसके विपरीत था। साल भर तक सुभाष बाबू कांग्रेस के अध्यक्ष बने रहे। अगले वर्ष वह दोबारा कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। उनकी यह सफलता इसलिये और भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि महात्मा गांधी ने स्वयं सुभाष बाबू का विरोध किया था और उनके प्रतिद्वन्द्वी डा० पट्टाभि सीतारामैया के हार जाने पर कहा था—"यह डा० पट्टाभि की हार नहीं, मेरी हार है।"

कांग्रेस से पद-त्याग—

इस बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने पर भी कांग्रेस कार्य-समिति के अधिकांश प्रमुख सदस्यों ने उनके साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। सुभाष बाबू कांग्रेस में फूट डालना नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने कांग्रेस को छोड कर अपना एक अलग दल बनाया, जिसका नाम 'फार्वर्ड ब्लाक' रखा गया।

यूरोप में युद्ध प्रारम्भ हो चुका था और अंग्रेजों के शत्रुओं जर्मनी और इटली की सेनाएं विजय प्राप्त कर रही थी। सुभाष बाबू इस अवसर का उपयोग देश को स्वाधीन कराने के लिये करना चाहते थे, किन्तु कांग्रेस की बागडोर जिन नेताओं के हाथों में थी, वे अंग्रेजों की विपत्ति का लाभ उठाने को तैयार नहीं थे। सुभाष बाबू ने कलकत्ता में काल-कोठरी स्मारक को हटाने के लिये सत्याग्रह प्रारम्भ किया जिस पर सरकार ने उन्हें तुरन्त जेल में डाल दिया।

किन्तु इस अवसर पर सुभाष बाबू जेल में पड़े रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। उनके इस अनशन से सारे देश में सनसनी फैल गयी। सरकार ने उन्हे जेल से छोड़ कर उनके अपने ही घर मे नजरबन्द कर दिया।

जासूसों को चकमा—

ऐसा लगता है कि इस समय तक सुभाष बाबू की कुछ गुप्त योजनाएं पूरी हो चुकी थी, क्योंकि २६ जनवरी १९४१ ई० के दिन एकाएक लोगों को यह सम्वाद मिला कि सुभाष बाबू खुफिया पुलिस की आंखों में धूल झोंक कर अपने घर से निकल भागे हैं। यह संवाद बहुत आश्चर्यजनक था, क्योंकि उन दिनों युद्ध के कारण सरकार इतनी सतर्क थी कि सुभाष बाबू का इस प्रकार एकाएक लुप्त हो जाना कुछ जादू की सी ही बात थी। पुलिस ने बहुत खोज की, किन्तु सुभाष बाबू का कुछ पता न चला। फिर कई महीने बाद एकाएक उनकी आवाज़ बर्लिन

रेडियो पर सुनाई पड़ी, तब लोगों को यह पता चला कि वे जर्मनी जा पहुँचे हैं।

उनके जर्मनी पहुँचने का विस्तृत वृत्तान्त युद्ध समाप्त होने पर मालूम हुआ। अपने घर से एक मुसलमान मौलवी का वेश बनाकर वह निकले थे। उससे पहले कई दिन तक बिलकुल एकान्त में रहते हुए उन्होंने अपनी दाढ़ी मूछें बढ़ा ली थी, इसलिये मौलवी के वेश में उन्हें घर से निकलते देखकर पुलिस वालों को सन्देह न हुआ। इसी वेश में वह रेल द्वारा पेशावर चले गये और वहां से दो एक विश्वस्त साथियों के साथ काबुल की ओर चल पड़े। काबुल मे उन्हें बहुत दिन तक रहना पड़ा, क्योंकि वहां से आगे सकुशल बच निकलने की व्यवस्था में बहुत देर लग गई। अन्त में इटालियन दूतावास की सहायता से सुभाष बाबू सकुशल जर्मनी पहुंच गये। जर्मनी में उस समय बहुत से भारतीय युद्ध बन्दी सैनिक विद्यमान थे। सुभाष बाबू ने इन सैनिकों को समझाया और उनकी सहायता से एक 'आजाद हिन्द फौज' का सगठन किया। इस 'आजाद हिन्द फौज' का उद्देश्य शस्त्रबल से भारत को स्वाधीन कराना था।

जर्मनों का हित भी इस बात में था कि वे भारतीयों की सहायता करें। इसलिये जर्मनी के नेता हिटलर ने सुभाष बाबू को सब सुविधाएं प्रदान कीं। उसने उन्हें भारत के 'फ्यूहरर' की उपाधि दी। 'फ्यूहरर' जर्मनी में उस समय सबसे अधिक आदर-सूचक उपाधि थी। हिटलर स्वयं भी 'जर्मन फ्यूहरर' कहलाता था। सुभाष बाबू बर्लिन और रोम के रेडियो से भाषण देकर भारत की जनता को आगामी संघर्ष के लिये प्रोत्साहित करने लगे।

१९४३ ई० के मध्य में एक पन्डुब्बी में बैठकर सुभाष बाबू जापान चले आये। उनका विचार था कि मलाया और बर्मा की ओर से 'आज़ाद हिन्द फौज' को लेकर भारत में प्रविष्ट हुआ जाय, तो उन्हें अधिक

सफलता मिल सकती है। जापान में आकर उन्होंने प्रसिद्ध भारतीय क्रान्तिकारी श्री रासबिहारी बोस का भी सहयोग प्राप्त किया।

आज़ाद हिन्द फौज के प्रधान सेनापति—

इस समय तक जापानी सेनाएं मलाया और बर्मा में आगे बढ़ रही थीं। पहले जापान में 'आज़ाद हिन्द फौज' का संगठन कप्तान मोहन सिंह ने किया था, किन्तु जब सुभाष बाबू जापान पहुँच गये, तो उन्हें ही 'आजाद हिन्द फ़ौज' का प्रधान सेनापति बना दिया गया।

सुभाष बाबू ने 'आज़ाद हिन्द फौज' के संगठन और संचालन में जिस योग्यता का परिचय दिया, उससे यह प्रतीत होता है कि सैन्य संगठन की उनमें जन्म-जात प्रतिभा थी। उन्होंने सेना के साथ-साथ विधि-पूर्वक आजाद हिन्द सरकार का भी निर्माण किया और अन्य स्वतन्त्र सरकारों की भाँति उसके भी विभिन्न विभाग बनाये। आज़ाद सरकार भारत की सबसे पहली स्वतन्त्र सरकार थी। इसे जर्मनी इटली, जापान इत्यादि नौ सरकारों ने स्वीकार भी कर लिया था।

कुशल वक्ता—

सरकार का निर्माण करने के बाद उसके लिये धन एकत्र करना और भारत की स्वाधीनता के लिये संग्राम का आयोजन करना आवश्यक था। सुभाष बाबू ने इसके लिये जगह-जगह जाकर सभाओं में भाषण दिये। देश की स्वाधीनता की लड़ाई के लिये लोगों से धन मांगा और युवकों से सेना में भर्ती होने का अनुरोध किया। उस समय सुभाष बाबू की ववतृत्व-कला का बहुत सुन्दर रूप सामने आया। जहां वे भाषण देते थे, वहीं आजाद-हिन्द सरकार के लिये धन की वर्षा सी होने लगती थी और आज़ाद-हिन्द फ़ौज में भर्ती होने के लिये युवकों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। स्त्रियों ने अपने गहने तक उतार कर 'आज़ाद-हिन्द फ़ौज' का संगठन करने के लिये दे दिये। 'आज़ाद-हिन्द फ़ौज' में भर्ती होने के लिये हज़ारों की संख्या में युवक तो आये ही, कितनी ही युवतियां भी

इस लड़ाई में भाग लेने के लिये फ़ौज में भर्ती हो गयीं। इन युवतियों की एक अलग रेजीमेंट बना दी गयी, जिसका नाम 'झांसी की रानी रेजीमेंट' था।

नेता जी—

अब तक सुभाष बाबू को उनके अनुयायी सैनिक अच्छी प्रकार पहचान गये थे। वह आदर और प्रेम से उन्हें 'नेता जी' कहा करते थे। तब से ही सुभाष बाबू 'नेता जी सुभाष' के नाम से मशहूर हो गये और इसी नाम से वे इतिहास में अमर रहेंगे।

१९४४ ई० के मार्च मास में आज़ाद-हिन्द फ़ौज ने भारत को अंग्रेज़ों के पंजों से मुक्त कराने के लिये प्रस्थान किया। सेना के सब सैनिक अद्भुत उत्साह से भरे हुए थे। "दिल्ली चलो" उनका नारा था। लाल-क़िले पर तिरंगा झंडा फहराने का निश्चय उनकी आँखों में झलक रहा था। नेता जी ने उनसे कहा था—"तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा।" साथ ही नेता जी ने उन्हें यह भी बता दिया था कि मेरे पास तुम्हें देने के लिये सिवाय कष्टों और मुसीबतों के और कुछ नहीं है। हमें बलिदान के मार्ग पर चलना है। जो इसके लिये तैयार हों, वही आगे आयें। जिन्हें यह स्वीकार न हो, वे खुशी से वापस लौट सकते हैं।" परन्तु कोई भी सैनिक वापस नहीं लौटा।

वीरतापूर्ण संग्राम—

आज़ाद-हिन्द फ़ौज ने अपने बहुत थोड़े साधनों से जितनी वीरता के साथ शत्रु से युद्ध किया वह इतिहास में सुनहले अक्षरों मे लिखा जायगा। उनके पास न तो काफ़ी हथियार थे और न खाने-पीने की ही पर्याप्त सामग्री थी। फिर भी वे लोग बड़ी वीरता से लड़े और आगे बढ़ते हुए मणिपुर की राजधानी इम्फाल तक आ पहुँचे।

किन्तु इस समय तक युद्ध का पासा पलट चुका था। जर्मनी हार गया था और अब जापानी सेनाएँ भी सभी मोर्चों से पीछे हट रही थीं।

अंग्रेजों और अमेरिकनों की शक्ति दिनों-दिन बढ़ रही थी। उनके पास अच्छे से अच्छे हथियार थे और सब से बढ़कर उन्हें वायु सेना की सहायता प्राप्त थी, जो आज़ाद-हिन्द फ़ौज को प्राप्त नहीं थी। इसलिये विवश होकर 'आज़ाद-हिन्द फ़ौज' को पीछे हटना पड़ा। जापान की पराजय के पश्चात् तो आजाद-हिन्द फ़ौज भी पूरी तरह हार गई।

सुभाष बाबू की मृत्यु काफी समय तक एक रहस्य ही बनी रही। २३ अगस्त १९४५ ई० को तोकियो से यह समाचार मिला कि सुभाष बाबू एक विमान दुर्घटना में मारे गये हैं। यह समाचार अत्यन्त दुःखद था। किन्तु सहसा इस पर किसी ने विश्वास नहीं किया। बहुत समय तक यही समझा जाता रहा कि सुभाष बाबू मरे नहीं हैं, अपितु गुप्त रहने के लिये ही उन्होंने यह विमान दुर्घटना का विवरण प्रचारित करवा दिया है। किन्तु अब इतना समय बीत जाने के पश्चात् इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि सुभाष बाबू स्वर्गवासी हो चुके हैं।

जिन दिनों नेता जी सुभाष जर्मनी में थे, उन दिनों उन्होंने एक आस्ट्रियन युवती ऐमिली शैंकल से विवाह कर लिया था। इस विवाह से उनकी एक कन्या भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम अनीता रखा गया। इस समय श्रीमती ऐमिली शैंकल और अनीता वसु दोनों आस्ट्रिया में रह रही हैं।

देश की स्वाधीनता की लालसा से प्रेरित होकर अनेक वीर युवकों ने अद्‌भुत त्याग किया था; किन्तु नेता जी सुभाष इस दृष्टि से उन सब के अग्रणी थे। जिस प्रकार वन में स्वच्छन्द विचरने वाला सिंह एकाएक पिंजरे में बन्द हो कर तड़प उठता है, और छूटने के लिये अपने प्राणों की बाज़ी लगा देता है, उसी प्रकार सुभाष बाबू को भी पराधीनता का बन्धन असह्य प्रतीत होता था और उससे देश को मुक्त कराने के लिये उन्होंने प्राणों की बाज़ी लगा दी थी। पराधीनता से मुक्त होने के लिये

अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने का भी धैर्य उनमें नहीं था। इस सम्बन्ध में वह आदर्शवादी कम और व्यावहारिक अधिक थे। गाँधी जी के सिद्धान्तों से उनका मौलिक मतभेद था। एक बार उन्होंने कहा था—"सत्याग्रह तो मेरी समझ में आता है, पर यह अहिंसा क्या बला है?"

स्वाधीनता संग्राम के सच्चे, वीर और साहसी सेनापति के रूप में उनका नाम भारत के इतिहास में अमर रहेगा।

पंडित जवाहरलाल नेहरू

'परदुःखे कातरता, महच्च धैर्यं स्वदुःखेषु ।'

भारत से बाहर विदेशों में अपने देश का नाम उज्वल करने वाले भारतीयों में श्री जवाहरलाल नेहरू का नाम सब से ऊपर लिखा जाने योग्य है। भारत के स्वाधीन होने के पश्चात् आपने भारत की विदेश नीति का जैसा सफल संचालन किया है, उसके कारण क्या साम्यवादी और क्या साम्राज्यवादी, सभी देश उनके प्रशंसक बन गये हैं। यही कारण है कि नेहरू जी अमेरिका, रूस और चीन जैसे एक दूसरे के विरोधी देशों में निमंत्रित हो कर गये और उन सभी देशों में जनता ने उनका बड़े आदर और प्रेम से स्वागत किया। संसार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति में आज जो स्थान श्री जवाहरलाल नेहरू का है, वह किसी का नहीं है।

नेहरू जी की इस सफलता के पीछे उनके सारे जीवन की साधना और तपस्या निहित है। एक उच्च ध्येय को सामने रख कर जितना

त्याग और परिश्रम उन्होंने किया है, उतना जो भी करता वही जवाहरलाल बन जाता। पर ऐसा करने वाला कोई करोड़ों में एक ही मिलता है; और जो ऐसा कर पाता है, वह शताब्दियों तक जनता का हृदयहार बना रहता है।

जवाहरलाल जी के पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे, जो कश्मीर से आकर दिल्ली में बस गये थे। १८५७ के महाविद्रोह के दिनों में इन लोगों को दिल्ली छोड़ कर इलाहाबाद चले जाना पड़ा। वहां रहते हुए इस परिवार ने फिर अच्छी उन्नति कर ली। पंडित मोतीलाल जी इलाहाबाद के सबसे प्रसिद्ध वकील थे। अपनी वकालत द्वारा उन्होंने खूब धन कमाया था। धन कमाने के साथ-साथ उन्हें धन व्यय करना भी आता था। यही कारण था कि उनका रहन-सहन और ठाट-बाट बिलकुल राजाओं जैसा था। उन्हीं के घर १४ नवम्बर १८८९ ई० को जवाहरलाल जी का जन्म हुआ।

उत्तम शिक्षा—

पंडित मोतीलाल जी पश्चिमी सभ्यता के रंग में खूब रंगे हुए थे। उनका सारा रहन-सहन यूरोपियन ढंग का था। जवाहरलाल जी का बचपन बहुत सुख और लाड़-प्यार में बीता। उन्हें पढ़ाने के लिये शुरू से ही अंग्रेज अध्यापक रखे गये। वह स्कूल नहीं जाते थे। इसलिये उनका सम्पर्क अपनी आयु के अन्य बालकों से कम ही हो पाता था। १६ वर्ष की आयु में जवाहरलाल जी को पढ़ने के लिये इंगलैंड भेज दिया गया। दो वर्ष तक वह 'हैरो' के प्रसिद्ध विद्यालय में रहे और उसके बाद कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भरती हो गये। २१ वर्ष की आयु में उन्होंने बी. ए. परीक्षा पास कर ली।

जवाहरलाल जी के पिता मोतीलाल जी बहुत दृढ़ और ज़रा कठोर स्वभाव के व्यक्ति थे। वह अपने घर में भी कड़ा अनुशासन रखते थे। कभी-कभी जवाहरलाल जी को भी इस अनुशासन की कठोरता भुगतनी

पड़ जाती थी। पर जवाहरलाल जी की माता श्रीमती स्वरूपरानी का बालक पर बहुत ही प्यार था। जवाहरलाल जी उनकी स्नेहमयी छाया में ही रहना अधिक पसंद करते थे।

पढ़ाई में जवाहरलाल जी मध्यम लड़कों में से थे। न तो वह कभी फेल ही हुए और न कभी पहले या दूसरे नम्बर पर ही आये। इंगलैंड की शिक्षा के फलस्वरूप जवाहरलाल जी के जीवन में अनुशासनप्रियता और राष्ट्रीय नियंत्रण खूब आ गया। अंग्रेजों के बीच रह कर पढ़ने के कारण उन्होंने अंग्रेजों को कभी भी अपने से बड़ा नहीं समझा। उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता से उसके गुण तो ग्रहण कर लिये, किन्तु उसके दोषों से वह बचे ही रहे।

बी. ए. पास करने के बाद उन्होंने वकालत की परीक्षा पास की और १९१२ में वह भारत वापस लौट आये। इस समय उनकी आयु २३ साल की थी।

वकालत में रुचि नहीं—

मोतीलाल जी ने जवाहरलाल जी को वकालत इसलिये पढ़ाई थी, क्योंकि वह चाहते थे कि उनका पुत्र भी उनकी भांति ही धन और मान का अर्जन करके यशस्वी जीवन बिताये। परन्तु जवाहरलाल जी को वकालत में विशेष रुचि न थी। वकालत की अपेक्षा राजनीति ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया। उन दिनों कांग्रेस में नरम और गरम दो दल थे। पंडित मोतीलाल जी नरम दल के कांग्रेसी नेता थे, परन्तु जवाहरलाल जी का झुकाव गरम दल की ओर रहा।

१९१३ में जवाहरलाल जी का विवाह हो गया। अपनी पत्नी कमलादेवी के साथ कुछ दिन के लिए वह अपने पूर्वजों की भूमि कश्मीर चले गये। किन्तु कश्मीर वे बहुत दिन नहीं रह पाये। देश में राजनीतिक वातावरण गरम होने लगा था। उन दिनों पहला विश्वयुद्ध समाप्त हो कर चुका था। युद्ध-काल में गांधी जी ने अंग्रेजों की सहायता की थी। उन्हें आशा

थी कि युद्ध के बाद अंग्रेज भारत को यदि पूरी नहीं तो आंशिक स्वाधीनता तो दे ही देंगे। पर अंग्रेज़ों ने बदले में दिया रौलेट एक्ट और दमन। और कोई उपाय न देख कर गांधी जी ने सत्याग्रह और असहयोग की घोषणा कर दी। जवाहरलाल जी को लगा कि अब उनके काम करने योग्य अवसर आ पहुंचा है। उन्होंने सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय कर लिया।

परन्तु सत्याग्रह करने पर तो जेल जाना होगा, मार-पिटाई सहनी होगी। उन दिनों भले आदमियों का जेल जाना मरने से भी बुरा समझा जाता था। जब मोतीलाल जी को मालूम हुआ कि जवाहरलाल जी सत्याग्रह करके जेल जाने की तैयारी मे है, तो उन्होंने जवाहरलाल जी को बुला कर समझाया और गांधी जी तक को इलाहाबाद बुलवा कर जवाहरलाल जी को सत्याग्रह में भाग न लेने का उपदेश दिलवाया। परन्तु ज्यों-ज्यों स्वाधीनता-संग्राम जोर पकड़ने लगा, त्यों-त्यों राजनीति में और अधिक भाग लेने लगे।

राजनीति में सक्रिय भाग—

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद भारत में राजनीतिक आन्दोलन बढ़ता ही जा रहा था। पहले तो विजय के नशे में चूर अंग्रेजों ने दमन करके जनता की आवाज़ को दबा देना चाहा, पर जब काफी खून-खराबी के बाद भी इस में सफलता मिलती दिखाई न पड़ी, तो उन्होंने इंग्लैंड के युवराज को भारत बुलाने का निश्चय किया। उनका विचार था कि इससे भारत की जनता में राजभक्ति का भाव जाग उठेगा और विद्रोह की गर्मी समाप्त हो जायगी। इस यात्रा में सरकार की ओर से भारत में जगह-जगह युवराज का धूमधाम से स्वागत किया जाना था। कांग्रेस ने युवराज के स्वागत का बहिष्कार करने का निश्चय किया। युवराज जहाँ भी जाते, उनका स्वागत हड़ताल और काले झंडों से किया जाता।

इलाहाबाद में उन दिनों कांग्रेस के कार्य का संचालन जवाहरलाल जी कर रहे थे। हड़ताल और सत्याग्रह की तैयारियाँ हो रही थीं। परन्तु युवराज के आगमन से पहले ही सरकार ने पंडित मोतीलाल और जवाहरलाल दोनों को गिरफ्तार कर लिया और दोनों को छः-छः महीने की सज़ा दे दी गई।

यह जवाहरलाल जी की पहली गिरफ़्तारी और पहला कारावास था। उसके बाद तो वह बीसियों बार गिरफ़्तार हुए और जेल गये। कई बार उन्होंने पुलिस के हाथों मारपीट भी सही। किन्तु उन्हें मालूम था कि महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के मार्ग पर चलकर इतना कष्ट तो सहना ही होगा। फिर भी पराधीनता के कष्ट की अपेक्षा उन्हें यह कष्ट कहीं अधिक सह्य प्रतीत हुआ।

जब १९२१ ई० के सत्याग्रह का जोश कम हो चला, तो सरकार ने सत्याग्रहियों को छोड़ना शुरू कर दिया। सत्याग्रह के सिलसिले में जवाहरलाल जी कई बार पकड़े और छोड़े गये थे। जब वह १९२२ ई० में जेल से छूटे, तो इलाहाबाद की कांग्रेस पार्टी ने उन्हें शहर की नगरपालिका का अध्यक्ष बनाने का निश्चय किया। इस पद पर काम करते हुए नेहरू जी ने अपनी विलक्षण प्रबन्धकुशलता का परिचय दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिन बाद उन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी का प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया गया।

देश के स्वाधीनता-संग्राम का संगठन करने वालों में नेहरू जी सदा सबसे आगे रहे। अनेक बार कभी छोटी-छोटी बातों को लेकर और कभी बड़ी-बड़ी बातों पर आपका अंग्रेज़ी नौकरशाही से संघर्ष हुआ। पर आपने हर बार सरकारी अफसरों के अनुचित आदेश का दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध किया और कभी इस बात की चिन्ता नहीं की कि उसका परिणाम क्या होगा।

गाँवों में प्रचार—

महात्मा गांधी ने इस बात को अनुभव कर लिया था कि जब तक स्वाधीनता-युद्ध की आग गांवों तक मे नहीं भड़क उठती, तब तक देश का स्वाधीन हो पाना संभव नहीं है। इस लिए वह गांवों में राजनीतिक चेतना जगाने के लिए प्रयत्नशील थे। गांवों में जाकर काम करना आसान न था। परन्तु नेहरू जी ने उत्तरप्रदेश के गांवों में खूब दौरे किए। गांव-गांव जाकर व्याख्यान दिए। उन्होंने गांव के लोगों की दशा को पास जाकर देखा और उनके कानों में आजादी का मंत्र फूंका।

कभी जेल और कभी गांवों के दौरे, इन सब राजनीतिक गतिविधियों के कारण नेहरू जी का जीवन बहुत व्यस्त बीतने लगा। इसी बीच उनकी पत्नी कमला जी का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। डाक्टरों ने सलाह दी कि उन्हें चिकित्सा के लिये यूरोप ले जाना उचित होगा। अतः जवाहरलाल जी १९२६ ई० के मार्च मास में अपनी पत्नी और पुत्री को साथ लेकर कुछ समय के लिये यूरोप चले गये। इस यात्रा में उन्हें रूस तथा यूरोप के अन्य अनेक देशों में घूमने का अवसर प्राप्त हुआ।

जब जवाहरलाल जी यूरोप से लौटे, उस समय भारत में साइमन कमीशन का बहिष्कार किया जा रहा था। साइमन कमीशन की नियुक्ति भारतीयों को अधिकाधिक राजनीतिक अधिकार देने के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए हुई थी। पर इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था। इसलिये भारत में यह कमीशन जहां भी जाता था, वहीं पर जनता काले झंडे लेकर "साइमन कमीशन वापस जाओ" के नारे लगाती थी। पुलिस और फौज इन प्रदर्शनकारियों को बुरी तरह पीटती थी। लाला लाजपतराय साइमन कमीशन-विरोधी प्रदर्शन के समय पुलिस की लाठियों से घायल हुए थे। इलाहाबाद में जवाहरलाल जी और पंडित

गोविन्दवल्लभ पन्त ने इन प्रदर्शनों का नेतृत्व किया था। इसमें दोनों को काफी चोटें भी आई थीं।

पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव--

देश की स्वाधीनता के लिये जवाहरलाल जी ने जो त्याग किया था और जो कष्ट उठाए थे, उनका देश ने आदर किया और १६२६ में लाहौर कांग्रेस के लिये आपको ही कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन भारत के इतिहास में विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी अधिवेशन में पहले-पहल कांग्रेस ने अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' घोषित किया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि स्वाधीनता की भावना जवाहरलाल जी में कितनी उग्र थी।

इस पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव को पास करने के बाद १६३० ई० में कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व मे दूसरी बार सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया। नेहरू जी को फिर जेल जाना पड़ा। अब तो अकेले जवाहरलाल जी ही नहीं, बल्कि उनका सारा परिवार आज़ादी की लड़ाई में कूद पड़ा था। मोतीलाल जी तो पहले से ही राजनीति में भाग ले रहे थे, अब जवाहरलाल जी की बहिन विजयलक्ष्मी और पत्नी कमला जी भी स्वयंसेविकाओं का संगठन करने और सत्याग्रह में भाग लेने लगीं। उनकी माता स्वरूपरानी जी तक दूकानों पर धरना देने गईं। जिन लोगों को अनायास ही जीवन के सारे सुख प्राप्त थे, उन्होंने स्वेच्छा से उनको त्याग कर बलिदान का यह कठोर मार्ग अपना लिया।

परन्तु कमला जी का शरीर उनका साथ न दे सका। वह एक बार पहले बीमार हो चुकी थीं। अभी उसी दुर्बलता से पूरी तरह संभल न पाई थीं कि उन्हें दोबारा बीमारी ने आ घेरा। उनकी काफी चिकित्सा की गई, जवाहरलाल जी उन्हें लेकर एक बार फिर यूरोप भी गये, किन्तु उन्हें बचाया न जा सका। कमला जी जवाहरलाल जी का दांया

हाथ थीं। उनकी क्षति किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती थी।

१९३६ में नेहरू जी फिर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। देश की जनता का विश्वास उन पर खूब जम चुका था और उसे विश्वास था कि केवल जवाहरलाल जी ही संकट-काल में देश की नौका को खे सकते हैं। अध्यक्ष पद को संभालने के बाद आपने सारे साल देश के विभिन्न प्रान्तों में तूफानी दौरे लगाये। इन दौरों में उन्हें घोर परिश्रम करना पड़ता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, दिन मे कई जगह व्याख्यान देना और जलसों में सम्मिलित होना उनका नित्य का काम बन गया था। उनके स्थान पर यदि अन्य कोई व्यक्ति होता तो वह बहुत जल्दी थक कर चूर हो जाता। परन्तु नेहरू जी में असाधारण कार्यशक्ति है। १९३७ ई० में फिर आपको ही कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया।

१९३७ ई० में नये विधान के अनुसार प्रान्तों मे विधान-सभाओं के चुनाव हुए थे। इन चुनावों में कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई थी। इस विजय का बहुत अधिक श्रेय जवाहरलाल जी को था। इन चुनावों में कांग्रेस को सफल करने के लिए उन्होंने घोर परिश्रम किया।

१९४२ का आन्दोलन—

१९३७ ई०में प्रान्तों में जो कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे, वे १९३९ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर टूट गये। सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों से सलाह लिये बिना भारत को युद्ध में सम्मिलित कर दिया था। इसके विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये थे। संघर्ष का एक नया दौर शुरू हुआ था। पहले कुछ समय तक तो महात्मा गांधी व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाते रहे, किन्तु उससे अभीष्ट परिणाम न निकलने पर ८ अगस्त १९४२ ई० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। उसके साथ ही कांग्रेस के सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये। जवाहरलाल जी भी इन्हीं में थे।

१४ जून १९४५ ई० को काँग्रेसी नेता जेलों से इसलिए रिहा कर

दिये गये, जिससे वे शिमला में होने वाले भारत के प्रमुख राजनीतिक नेताओं के सम्मेलन में भाग ले सकें। यह सम्मेलन भारत में लोकप्रिय सरकार बनाने के उद्देश्य से किया जा रहा था। जेल से छूटते ही नेहरू जी ने अपने पहले भाषण में कहा—"१९४२ई० में हुआ आन्दोलन हमारा आन्दोलन था। उसमें हुए सब कामों की जिम्मेदारी हमारी है।" उस आन्दोलन में अनेक हिंसात्मक कार्य भी हुए थे। नेहरू जी से पूर्व गांधी जी तथा अन्य कांग्रेसी नेता उस आन्दोलन को अपना आन्दोलन कहते हिचक रहे थे।

उन दिनों भारत सरकार नेताजी सुभाष की आज़ाद हिन्द फौज के बन्दी सैनिकों पर मुकद्दमा चलाने वाली थी। नेहरू जी ने बड़े साहस के साथ इन सैनिकों के पक्ष का समर्थन करने का निश्चय किया। आज़ाद हिन्द के सैनिकों का मुकद्दमा लड़ने के लिये उन्होंने न केवल देश भर में आन्दोलन किया, अपितु स्वयं भी वकीलों का चोगा पहना, जिसे वह बरसों पहले छोड़ चुके थे। आज़ाद हिन्द के वीर सैनिकों को जेल से मुक्ति दिलाने का सबसे अधिक श्रेय नेहरू जी को ही है।

स्वतन्त्र भारत के प्रधान मंत्री—

जब भारत को स्वाधीनता देने की भूमिका के रूप में देश में लोकप्रिय अस्थायी सरकार बनी, तब जवाहरलाल जी को उसका प्रधानमन्त्री बनाया गया। उसके बाद देश का विभाजन हो गया। भारत में नया संविधान बना। उस संविधान के अनुसार नये चुनाव हुए। इन चुनावों के पश्चात् स्वतन्त्र भारतीय गणतन्त्र के प्रधानमन्त्री भी आप ही बनाए गए। इस प्रकार स्वाधीनता के लम्बे संघर्ष की समाप्ति सफलता पर पहुँच कर हुई।

नेहरू जी भारत के प्रधानमन्त्री भी हैं और विदेशमन्त्री भी। उन्होंने भारत की विदेशनीति का जिस कुशलता के साथ संचालन किया

है, उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का मान बहुत बढ़ा है। इस बीच वह चीन और रूस की यात्रा भी कर आए हैं। इन दोनों ही देशों में उनका बहुत भव्य स्वागत हुआ, जिसके फलस्वरूप भारत के साथ इन देशों के सम्बन्ध अत्यन्त सद्भावनापूर्ण हो गए हैं। इसके साथ ही साम्राज्यवादी गुट के देशों से भी भारत के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हैं।

परन्तु नेहरू जी साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं। वह साम्राज्यवाद को संसार के किसी भी भाग में, किसी भी रूप में नही देखना चाहते। बाडुंग मे हुए एशियाई और अफ्रीकी देशों के सम्मेलन में साम्राज्यवाद विरोधी प्रस्ताव पास कराने में आपका बहुत बड़ा हाथ था।

नेहरू जी अहिंसा और शान्ति के सच्चे पुजारी हैं। अणुबम से भयभीत संसार को भारत की शान्तिपूर्ण नीति से बड़ी सान्त्वना मिली है। साम्यवादी और साम्राज्यवादी गुटों में तनाव को कम करने में भारत के विदेश मन्त्रालय ने बहुत सहयोग दिया है। अहिसा और शान्तिप्रियता के कारण ही नेहरू जी गोआ में सेनाओं का प्रयोग न करके शान्ति की नीति बरत रहे हैं।

नेहरू जी उत्साही और साहसी योद्धा होने के साथ-साथ उत्कृष्ट लेखक भी हैं। उनकी 'मेरी कहानी' और 'विश्व इतिहास की एक झलक' उत्कृष्ट कोटि की पुस्तकें हैं। उन्होंने और भी कई सुन्दर पुस्तकें लिखी है। लेखन और भाषण का ऐसा इकट्ठा कौशल कम ही लोगों में दिखाई पड़ता है।

नेहरू जी भावुक व्यक्ति हैं। भावना के आवेश में आकर वह अपने आपको भूल बैठते है। इसीलिये वह बहुत बार ऐसे अनेक कार्य कर बैठते हैं, जिनकी उनसे बिलकुल आशा नहीं की जाती। जलसों के समय बेकाबू होती हुई भीड़ को काबू करने का काम तो वह प्रायः स्वयं अपने हाथ में ले लेते हैं, जिससे उनके अंगरक्षकों और हितैषियों को बहुत चिन्ता उठानी पड़ती है।

नेहरू जी को बच्चों से बहुत प्यार है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि नेहरू जी का अपना पारिवारिक जीवन बहुत सुखी नहीं है, या कहना चाहिये कि उन्होंने अपने पारिवारिक जीवन के सुख को देश के लिये बलिदान कर दिया है और सारे देश को ही अपना परिवार बना लिया है।

अपने साहस, दृढ़ संकल्प, बलिदान और भावुकता के कारण आज नेहरू जी समस्त भारतवासियों की आँख के तारे बने हुए हैं।

अजेय लौह पुरुष—

सरदार वल्लभभाई पटेल

'पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ।'

भारत को स्वाधीन किसने कराया ? इस प्रश्न के उत्तर में शायद सन्देह हो सकता है, क्योंकि भारत को स्वाधीन कराने में बहुत सी शक्तियों का सम्मिलित प्रभाव काम कर रहा था, किन्तु भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद लगभग ६०० स्वतंत्र देशी राज्यों को भारतीय-संघ में सम्मिलित करके देश को एक सुसंगठित राज्य बनाने का श्रेय पूर्णतया सरदार वल्लभ भाई पटेल को दिया जा सकता है । और मजे की बात यह है कि इन ६०० राज्यों को भारत की केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने में हैदराबाद के अतिरिक्त कहीं भी न तो सेना का ही प्रयोग किया गया और न किसी प्रकार का रक्तपात या उपद्रव ही हुआ । हैदराबाद में भी सेना का प्रयोग नाम-मात्र को हुआ । हताहतों की संख्या बिलकुल नगण्य रही । यह चामत्कारिक सफलता सरदार पटेल की दृढ़ता और नीतिकुशलता का परिणाम

थी। कुछ लोगों ने उन्हें 'भारत का बिस्मार्क' कहा है। किन्तु भारत की विशालता और सरदार पटेल के कार्य की गुरुता को देखते हुए बिस्मार्क की सफलताएँ बहुत छोटी जान पड़ती हैं। पटेल और बिस्मार्क में वही अन्तर था, जो भारत और जर्मनी मे है।

सरदार पटेल लौहपुरुष कहे जाते थे। उनका यह विशेषण पूरी तरह सार्थक था। उनके संकल्प मे वज्र की सी दृढ़ता थी। जिस काम को कर लेने का वह निश्चय कर लेते थे, वह हो कर ही रहता था। वह कम बोलते थे। पर जो कुछ वह बोलते थे, उसके प्रत्येक शब्द में अर्थ होता था। इसीलिये उनका एक-एक शब्द ध्यान से सुना जाता था। उनके अनुयायी और उनके विरोधी, दोनों ही उनके शब्दों के सही मूल्य को पहचानते थे।

घटनाओं का चक्र जिस प्रकार चला, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि यदि सरदार पटेल भारत की राजनैतिक संक्रान्ति के उस अवसर पर न होते, तो भारत स्वाधीन होने के कुछ ही समय बाद बीसियों छोटे-बड़े टुकड़ों मे विभक्त हो गया होता। उस दशा में इतने बलिदानों के बाद प्राप्त की गई स्वतन्त्रता का कोई मूल्य न रह जाता। इसे देश का सौभाग्य ही कहना चाहिये कि उसे ऐसे विकट समय में ऐसा सुयोग्य कर्णधार प्राप्त हो सका।

वल्लभ भाई का जन्म गुजरात में नादियाड़ ताल्लुके के करमसद गाँव में ३१ अक्टूबर १८७५ ई० को हुआ था। आपके पिता श्री झवेर भाई एक साधारण किसान थे। वह साहसी, धार्मिक और दयालु स्वभाव के थे। सम्भवत: १८५७ ई० के विद्रोह में वह खेतीबारी छोड़ कर शस्त्र लेकर विद्रोहियों के साथ हो गये थे। विद्रोह असफल रहा। काफी समय तक अपनी जान बचाने के लिये वह एक स्थान से भाग कर दूसरे स्थानों पर जाते रहे। तीन वर्ष पश्चात् जब वह एकाएक अपने गाँव वापस लौटे, तब तक गाँव के लोग उन्हें मृत समझ चुके थे।

साहस और संघर्ष-प्रिय—

ऐसे साहसी पिता के पुत्र वल्लभ भाई में साहस की मात्रा अधिक होनी स्वाभाविक ही थी। इसके साथ ही वल्लभ भाई मे संगठन की क्षमता भी बचपन से ही थी। जब वह विद्यालय मे पढ़ते थे, तब भी वह विद्यार्थियों के साथ होने वाले अन्यायों के विरुद्ध हड़ताल इत्यादि का संगठन करते रहते थे। अध्यापकों के साथ झड़प हो जाने के कारण उन्हें एक-दो बार विद्यालय से निकाला भी गया। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति आपके रक्त में ही थी।

प्रारम्भिक शिक्षा नादियाड़ में समाप्त करने के बाद आप बड़ौदा के हाई स्कूल में प्रविष्ट हो गये। विद्यालय मे सरदार पटेल पढ़ाई-लिखाई में बहुत तेज़ नही थे। मैट्रिक में वह बिलकुल साधारण छात्रों की तरह ही पास हुए। इससे आगे की शिक्षा दिला पाना उनके पिता के वश से बाहर था। इसलिये मैट्रिक पास कर लेने के बाद वल्लभ भाई को अपने पाँवों पर खड़ा होने के लिये गोधरा मे मुख्तारी का काम शुरू कर देना पड़ा। वह बैरिस्टर बनना चाहते थे। किन्तु जब तक परिस्थितियां अनुकूल न हों, तब तक के लिये उन्हें अपनी यह इच्छा मन में ही दबा लेनी पड़ी।

देखा यह गया है कि यदि मनुष्य के मन में कोई तीव्र इच्छा उत्पन्न हो, और वह उसे पूरा करने के लिये कटिबद्ध हो जाय, तो पहले-पहल असंभव जान पड़ने वाली इच्छा भी पूर्ण हो कर ही रहती है। उसकी पूर्ति के साधन अपने-आप न जाने कहां से जुटते चले आते हैं। कुछ दिन गोधरा में मुख्तारी करने के बाद वल्लभ भाई बोरसद चले आये और वहां फ़ौजदारी मुक़द्दमों में वकालत करने लगे। विद्यालय में भले ही वल्लभ भाई की बुद्धि पढ़ाई-लिखाई में न चमकी, किन्तु वकालत मे उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। शीघ्र ही उन्होंने काफ़ी पैसा इकट्ठा कर लिया, इतना कि उससे वह सरलता से विलायत जा सकते थे।

वल्लभ भाई का विवाह १८ वर्ष की आयु में ही हो गया था। १८९८ ई० में उनकी पत्नी का असमय में ही स्वर्गवास हो गया। उन दिनों प्लेग फैली थी। प्लेग से बचाने के लिये वल्लभ भाई ने उन्हें गांव भेज दिया, किन्तु उन्हें प्लेग हो ही गई। काफ़ी इलाज कराने पर भी उन्हें बचाया न जा सका।

अद्भुत सहिष्णुता—

पत्नी की बीमारी की चिन्ता होते हुए भी वल्लभ भाई पहले से स्वीकार किये हुए मुक़द्दमों की पैरवी करने जाते ही रहे। मुवक्किलों को उन्होंने भाग्य भरोसे नही छोड़ दिया। एक दिन जब वह अदालत में एक मुक़द्दमे की पैरवी कर रहे थे, उसी समय उन्हें एक तार मिला, जिसमें उनकी पत्नी की मृत्यु का दुःखसंवाद था। उस तार को पढ़कर उन्होंने जेब में रख लिया और पहले की भाँति ही मुक़द्दमे की बहस करते रहे। जब शाम को अदालत बन्द हुई, उस समय उन्होंने अपने मित्रों को बताया कि उस तार में उनकी पत्नी के स्वर्गवास का दुःसमाचार था। विपत्तियों को इसी प्रकार चुपचाप सह लेने की क्षमता ने ही उन्हें 'लौहपुरुष' बनाया था।

उस समय वल्लभ भाई की आयु केवल ३३ वर्ष थी। उनकी पत्नी दो संतानें, एक पुत्र और एक पुत्री, छोड़ कर मरी थी। वल्लभ भाई ने दूसरा विवाह नहीं किया।

इस समय वल्लभ भाई के पास पैसा था। उन्होंने विलायत जाने के लिये एक कम्पनी से पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। कम्पनी का एक पत्र उनके बड़े भाई विट्ठल भाई के हाथ पड़ गया। उन्होंने वल्लभ भाई से अनुरोध किया—"पहले मुझे इंग्लैंड हो आने दो। तुम मेरे बाद चले जाना।" अपने हृदय की तीव्र इच्छा को दबाकर वल्लभ भाई ने यह अनुरोध स्वीकार कर लिया। विट्ठल भाई इंगलैंड चले गये और यथा-समय बैरिस्टर बन कर लौट आये।

उसके बाद वल्लभ भाई इंगलैंड गये। वह केवल बैरिस्टर बनने के उद्देश्य से इंगलैंड गये थे, इसलिये मां-बाप का पैसा फूंकने वाले अन्य भारतीय छात्रों की भांति वह इधर-उधर घूमते नही फिरे। पढ़ने में उन्होंने ऐसा परिश्रम किया कि वह परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। उन्हें ५० पौंड की छात्रवृत्ति मिली और पिछला सारा शुल्क माफ हो गया। बैरिस्टरी पास करते ही आप सीधे भारत लौट आये।

विट्ठल भाई ने बम्बई में वकालत प्रारम्भ की थी और वल्लभ भाई ने अहमदाबाद में। कुछ ही दिनों में दोनों भाइयों का नाम वकालत के क्षेत्र में चमक उठा। आय अच्छी हो जाने के कारण दोनों भाई ठाठ-बाट से रहने लगे। उन दिनों वल्लभ भाई पश्चिमी रहन-सहन को पसन्द करते थे, और भारतीय वेशभूषा तथा रहन-सहन की खिल्ली उड़ाया करते थे।

राजनीति में प्रवेश—

काफी धन कमा लेने के बाद विट्ठल भाई का विचार राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का हुआ। दोनों भाइयों में तय हुआ कि बड़े भाई तो राजनीति में भाग लेना शुरू करें और छोटे भाई धनोपार्जन करके घर का खर्च चलाते रहें। विट्ठल भाई कुछ ही समय में राजनीति के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध हो गये और १९१९ के सुधारों के अनुसार जब केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव हुए तो उनमें चुने जाकर आप असेम्बली के सब से प्रथम अध्यक्ष बने थे। इस अध्यक्ष पद का कार्य आपने इतनी योग्यता से किया था कि उसकी प्रशंसा विदेशी दर्शकों ने भी की थी।

उन्हीं दिनों गांधी जी ने अफ्रीका से लौटकर भारत की राजनीति में प्रवेश किया था। पहले-पहल वल्लभ भाई को गांधी जी की असहयोग और सत्याग्रह की नीति निकम्मी मालूम पड़ती थी। परन्तु एक बार सम्पर्क में आने के बाद वह गांधीजी के पक्के भक्त बन गये। १९१६ ई० में तो वह बैरिस्टरी को लात मार कर पूरी तरह स्वाधीनता-संग्राम में कूद

पड़े। उनका और गांधी जी का यह साथ जीवन-भर बना रहा।

पहले-पहल गोधरा में एक राजनीतिक सम्मेलन में बेगार-प्रथा को हटाने के सम्बन्ध में एक सम्मेलन में गांधीजी और पटेल का साथ हुआ था। बेगार-प्रथा को हटाने के लिये एक समिति बनाई गई थी। उस कमेटी के मन्त्री वल्लभ भाई चुने गये थे। पटेल ने कुछ ही दिनों में बेगार-प्रथा को समाप्त करवा दिया।

१९१८ में खेड़ा ज़िले में फसलें खराब हो गई थीं। इसलिये वहाँ के किसानों ने सरकार से लगान माफ कराने की प्रार्थना की थी। किन्तु सरकार ने इस उचित प्रार्थना पर भी बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वल्लभ भाई ने किसानों के कष्ट को समझा और उन्हें सत्याग्रह करने की सलाह दी। अन्त में सरकार को किसानों की मांग स्वीकार करनी ही पड़ी।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने भारत में जो दमन-चक्र चलाया था, उसका विरोध करने के लिये महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। वल्लभ भाई भी गुजरात में असहयोग के काम में जुट गए। उन्होंने अपने बच्चों को भी स्कूल से निकाल लिया, क्योंकि सरकारा स्कूलों का बहिष्कार करना भी असहयोग का एक अंग था। उन्होंने 'गुजरात विद्यापीठ' की स्थापना की और उसके लिए दस लाख रुपया एकत्र किया।

१९२२ ई० में चौरीचौरा कांड के कारण गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया था। सरकार ने गांधी जी को पकड़ कर छः साल के लिए जेल भेज दिया। उनकी अनुपस्थिति में गुजरात में पटेल ही राजनीतिक आन्दोलन का संचालन करते रहे। बोरसद के सत्याग्रह और नागपुर के झंडा-सत्याग्रह में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई। १९२४ में आप अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष चुने गए। इस पद पर रहकर आप चार साल तक नगर का सुप्रबन्ध करते रहे।

सफल सत्याग्रह—

बारडोली का सत्याग्रह वल्लभ भाई की ऐसी सफलता थी, जिसने उन्हें अखिल भारतीय नेताओं में ला खड़ा किया। इस सत्याग्रह में सफलता मिलने के कारण ही वह 'सरदार' कहलाने लगे थे। इस आन्दोलन का कारण यह था कि बारडोली में हर बीस साल बाद भूमि का नया बन्दोबस्त हुआ करता था। १९२८ ई० में जब बन्दोबस्त हुआ तो किसानों के लगान में ३० प्रतिशत वृद्धि कर दी गई। किसानों ने इस बात का विरोध किया। पहले ही लगान इतना अधिक था कि किसान उसे दे पाने में असमर्थ थे। यह बढ़ा हुआ लगान तो उनके लिए दे पाना बहुत ही कठिन था।

किसानों ने वल्लभ भाई के सामने अपनी कष्ट कथा कही। उन्होंने कहा—"हम सत्याग्रह करेंगे और बढ़ा हुआ लगान किसी तरह नहीं देंगे।" वल्लभ भाई ने इस सत्याग्रह में आने वाली विपत्तियों का चित्र उनके सामने अच्छी तरह खीच दिया। उन्होंने कहा—"सरकार तुम्हें कुचलने के लिए अपनी सारी ताकत लगा देगी। तुम्हारे घर का सब सामान सिपाही उठा ले जायंगे। स्त्रियों और बच्चों को भूखों मरना पड़ेगा। अगर तुम इस सबके लिए तैयार हो, तो सत्याग्रह से सफलता मिल सकती है।" जब किसानों ने कहा कि वे ये सब कष्ट सहने को तैयार हैं, तो पटेल ने इस सत्याग्रह का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। इस सत्याग्रह का संगठन और संचालन पटेल ने इतनी कुशलता से किया था कि सरकार को कुछ ही समय में घुटने टेक देने पड़े।

इस आन्दोलन में गुजरात से बाहर के कांग्रेसियों ने सहायता देनी चाही। पर सरदार पटेल अपने काम में किसी भी दूसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते थे, उन्होंने साफ कह दिया कि बाहरी सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बार वल्लभ भाई ने अपनी ओर संकेत करते हुए कहा था—"बारडोली में केवल एक ही सरदार है,

उसकी आज्ञा का पालन सब लोग करते हैं।" यह बात सच थी, फिर भी कही मजाक में गई थी। तब से ही वह 'सरदार' कहलाने लगे।

१९३० ई० में गांधी जी ने दूसरी बार सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ दिया। नमक कानून तोड़ने के लिए गांधी जी ने 'डांडी-यात्रा' की और उसके बाद देश में सभी जगह नमक-कानून तोड़ा जाने लगा। मोतीलाल नेहरू सत्याग्रह-संग्राम के संचालक बनाए गए थे। मोतीलाल जी की गिरफ़्तारी के बाद यह भार सरदार पटेल के कन्धों पर डाला गया। पहली अगस्त को लोकमान्य तिलक के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में बम्बई में एक विशाल जलूस निकाला गया था। इस सम्बन्ध में सरकार ने सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें तीन मास की सज़ा हुई।

कांग्रेस के अध्यक्ष—

सरदार पटेल की सेवाओं का सम्मान करते हुए १९३१ ई० में हुए कांग्रेस के अधिवेशन का अध्यक्ष आपको ही बनाया गया। उससे अगले वर्ष भी वही कांग्रेस के अध्यक्ष रहे।

सरकार ने गांधी जी के सत्याग्रह से घबरा कर सन्धि-चर्चा की थी और उसके फलस्वरूप गांधी-इर्विन समझौता हुआ था। परन्तु गोलमेज कान्फ्रेंस की असफलता के बाद सरकार ने फिर दमन प्रारम्भ कर दिया। गांधी जी तथा अन्य प्रमुख नेता जेलों में डाल दिए गए। सरदार पटेल भी गिरफ्तार कर लिए गए। १९३४ ई० के अन्त तक वह जेल में ही रहे। जेल से छूटने के बाद उन्हें 'कांग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड' का प्रधान बना दिया गया।

१९३७ ई० में नए विधान के अनुसार सभी प्रान्तों में चुनावों में कांग्रेस की सफलता के लिए सरदार पटेल ने बहुत कार्य किया। सारे देश में दौरा करके उन्होंने जगह-जगह भाषण दिये। कांग्रेस की ७ प्रान्तों में भारी बहुमत से विजय हुई। इन प्रान्तों में काँग्रेसी मंत्रिमंडल बने और उन्होंने शासन में अनेक सुधार किये। पर १९३९ में द्वितीय

विश्व युद्ध छिड़ जाने पर ये मंत्रिमंडल समाप्त हो गये।

भारत के गृह-मन्त्री—

९ अगस्त १९४२ को बम्बई में "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया गया था। उसी रात अन्य प्रमुख नेताओं के साथ-साथ पटेल भी गिरफ्तार कर लिये गए थे। १५ जून १९४५ तक ये सब नेता जेल में ही रहे। उसके बाद सरकार ने समझौता करने के लिये सब नेताओं को छोड़ दिया। कई महीने तक काँग्रेस, मुस्लिम लीग और अंग्रेजी सरकार में समझौते की चर्चा चलती रही। अन्त में २ सितम्बर १९४६ को पहली बार केन्द्र में जनता की लोकप्रिय सरकार बनी, जिसके प्रधान-मन्त्री श्री जवाहर-लाल नेहरू थे। उस अन्तरिम सरकार में सरदार पटेल गृह तथा सूचना विभाग के मन्त्री बने।

उसके बाद देश का विभाजन हो गया। १५ अगस्त १९४७ को देश पूर्णतया स्वाधीन हो गया। सरदार पटेल नई राष्ट्रीय सरकार में पहले की ही भांति गृह तथा सूचना विभाग के मन्त्री रहे। साथ ही उन्हें उपप्रधान-मन्त्री का पद और मिला। देश के विभाजन के समय जो उपद्रव हुए थे, उनमें सरदार पटेल ने अत्यन्त धैर्य और दृढ़ता से काम लिया। इसके फलस्वरूप उपद्रवों की भयंकरता बहुत कुछ कम हो गई। अंग्रेजों और मुस्लिम लीग की बहुत सी कुटिल चालें विफल हो गईं।

देशी राज्यों का विलय—

अंग्रेजों ने जब भारत को स्वाधीन किया तो उन्होंने देशी राज्यों के साथ हुए अपने सब समझौते और सन्धियां समाप्त कर दीं। ये राज्य अब अपने भविष्य का निर्णय करने में स्वतन्त्र थे। जो देशी राज्य अंग्रेजों के समय उनके पिट्ठू बन कर रहने को तैयार थे, वे अब पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बनने का स्वप्न देखने लगे। केवल भारत में ही इन राज्यों की संख्या ६०० के लगभग थी। यदि सचमुच ही ये राज्य उपद्रव पर उतर आते, तो भारत सरकार के लिए अच्छी मुसीबत बन

जाते । परन्तु सरदार पटेल ने उस समय बड़ी कुशलता, दूरदर्शिता और दृढ़ता से काम लिया । इनमें से अनेक छोटे-छोटे राज्यों को तो उन्होंने आस-पास के बड़े राज्यों में मिला दिया और बहुत से बड़े-बड़े राज्यों को मिला कर उनके 'ख' श्रेणी के राज्य बना दिए । ये 'ख' श्रेणी के राज्य भी भारतीय संध के अंग बन गए । इन राज्यों के राजप्रमुख पुराने राजा या नवाब ही बना दिये गये । हैदराबाद में रजाकारों ने बहुत उत्पात मचाया हुआ था । वहाँ सरदार पटेल ने सेना भेजकर शान्ति स्थापित करवा दी और हैदराबाद भी भारतीय-संघ में सम्मिलित हो गया ।

यह पटेल के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिसके लिए भारत उनका सदा ऋणी रहेगा । जब तक पटेल जीवित रहे, तब तक भारत सरकार सब विषम समस्याओं का बड़ी निश्चिन्तता के साथ सामना करती रही ।

कार्य के आधिक्य के कारण सरदार पटेल का स्वास्थ्य ख़राब रहने लगा । पर्याप्त विश्राम न मिल पाने के कारण चिकित्सा विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होती थी । आखिर १५ दिसम्बर १९५० ई० को उनका स्वर्गवास हो गया ।

सरदार पटेल शक्ति के पुंज थे । किन्तु उनकी यह शक्ति तब तक प्रकट नहीं होती थी, जब तक बाधाएं सामने आकर उन्हें चुनौती नहीं देती थीं । किन्तु बाधा या विपत्ति सामने आने पर वह चट्टान की भांति कठोर और अजेय हो जाते थे । मौलाना शौकत अली ने उन्हें एक बार "बर्फ से ढंका हुआ ज्वालामुखी" कहा था । उनके लिये इससे अच्छी दूसरी उपमा ढूंढ पाना कठिन है ।

भारत की प्रथम महिला राजदूत—

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित

'तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ।'

भारत के स्वाधीनता-संग्राम में केवल पुरुषों ने ही भाग नहीं लिया, अपितु स्त्रियों ने भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। वैसे तो स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जो आतंकवादी प्रयत्न किये गये थे, उनमें भी स्त्रियाँ पीछे नहीं रही थीं, किन्तु महात्मा गाँधी द्वारा आविष्कृत सत्याग्रह और असहयोग के आन्दोलन में भाग लेना उनके लिये अपेक्षाकृत सरल हो गया था। सरल इसलिये नहीं कि इस प्रकार के आन्दोलन में कष्ट कम उठाने पड़ते थे, बल्कि इसलिये क्योंकि इसमें उग्र कर्म करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। हिंसा, रक्तपात इत्यादि करना तो स्त्री स्वभाव के प्रतिकूल है, परन्तु इन आन्दोलनों में स्त्रियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि उच्च आदर्श के लिये अन्यायपूर्ण हिंसा का दृढ़तापूर्वक सामना करने में वे किसी से पीछे नहीं हैं। श्रीमती सरोजिनी

नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित इत्यादि अनेक महिलाओं ने इन आन्दोलनों में अनगिनत यातनाएं सहीं। किन्तु अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर ये सब कष्ट और बलिदान सफल हो गये।

स्वाधीनता के यज्ञ में नेहरू परिवार ने अपना सब कुछ होम दिया था। पं० मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू तो राजनीतिक आन्दोलनों में भाग ले ही रहे थे, जवाहरलाल जा की बहिनें विजयलक्ष्मी और कृष्णा भी विदेशी सामान बेचने वाली दूकानों के सामने धरना देती थीं। नेहरू जी की पत्नी कमला ने कांग्रेस स्वयंसेविकाओं का संगठन किया था। यहाँ तक कि वृद्धा माता स्वरूपरानी भी पीछे न रहीं और उन्होंने भी दूकानों पर धरना दिया। इन लोगों को कितनी बार जेल जाना पड़ा और कितनी बार पुलिस की चोटें सहनी पड़ीं, इसकी पूरी गिनती नहीं हैं। विजयलक्ष्मी इसी परिवार की बड़ा कन्या और जवाहरलाल जी की छोटी बहिन हैं।

विजयलक्ष्मी का जन्म १९०० ई० में इलाहाबाद में हुआ। उस समय इनका नाम स्वरूपकुमारी रखा गया था। जवाहरलाल जी की भाँति आपका बचपन भी अत्यन्त सुख और लाड-प्यार में बीता। मोतीलाल जी को पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी रहन-सहन बहुत पसन्द था। १९०५ ई० में वह जवाहरलाल जी को इंगलैड के विद्यालय में भर्ती कराने के लिये ले गये। उस समय स्वरूपकुमारी की आयु केवल पाँच वर्ष थी। वह भी अपने पिता और भाई के साथ इंगलैंड गई थीं। वह उनकी पहली विदेश-यात्रा थी। उसके बाद तो वह न जाने कितनी बार विदेशों की यात्रा कर चुकी हैं।

जवाहरलाल जी को विद्यालय में प्रविष्ट करा देने के बाद मोतालाल जी ने स्वरूपकुमारी को साथ लेकर यूरोप के अनेक देशों की यात्रा की। इस यात्रा से स्वरूपकुमारी के ज्ञान में काफी वृद्धि हुई।

अच्छी शिक्षा—

इस यात्रा के बाद भारत लौटकर मोतीलाल जी ने स्वरूपकुमारी के लिये एक अंग्रेज़ अध्यापिका मिस इपर को संरक्षिका के रूप में नियुक्त किया। इस अध्यापिका ने बहुत यत्नपूर्वक स्वरूपकुमारी को अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी रहन-सहन का अभ्यास कराया। इसके साथ ही उसने स्वरूपकुमारी को अनुशासन में रहना और नियम का पालन करना भी सिखाया। यही स्वरूपकुमारी आगे चलकर विजयलक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध हुई।

विजयलक्ष्मी की शिक्षा-दीक्षा एकांगी नहीं थी। पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ उन्हें घर के अन्य सभी आवश्यक काम-काज उचित रीति से सिखाये गये थे। एक बार जब उनकी माता जी बीमार पड़ीं, तो विजयलक्ष्मी ने इतनी तत्परता और कुशलता से उनकी सेवा की कि सब चकित रह गये।

गाँधी जी के साथ नेहरू परिवार का सम्पर्क १९१९ ई० में ही हो गया था। जवाहरलाल जी सत्याग्रह में भाग लेने को बेचैन थे और मोतीलाल जी पुत्र-स्नेह के कारण उन्हें जेल जाने देना नहीं चाहते थे। इसलिये उन्होंने गाँधी जी को इलाहाबाद बुलवाया था कि वह जवाहरलाल जी को समझा-बुझा कर सत्याग्रह में सम्मिलित होने से रोकें। जब गाँधी जी इलाहाबाद आये थे, तब विजयलक्ष्मी ने उनके दर्शन किये थे। वह गाँधी जी से प्रभावित भी बहुत हुई थीं।

१९२१ में विजयलक्ष्मी का विवाह राजकोट के एक सम्पन्न परिवार के युवक श्री रणजीत सीताराम पंडित से होना निश्चित हुआ। श्री रणजीत सुन्दर, स्वस्थ और उच्च शिक्षित व्यक्ति थे। गांधी जी के निजी सहकारी श्री महादेव देसाई ने इन दोनों का परस्पर परिचय कराया था। वर-वधू दोनों एक दूसरे के बिलकुल उपयुक्त थे।

परन्तु १९२१ई० के दिन असहयोग, सत्याग्रह और राजनीतिक अशान्ति

के दिन थे । इस समय तक नेहरू परिवार राजनीति के क्षेत्र में काफी प्रमुखता प्राप्त कर चुका था, इसलिये स्वाभाविक ही था कि अधिकांश प्रमुख कांग्रेसी नेता इस विववाह अवसर पर उपस्थित होते । इस बात को ध्यान में रखकर इस अवसर पर कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने एक ज़िला-सम्मेलन भी कर डालने का आयोजन कर लिया, जिससे दूर-दूर से आने वाले नेताओं के भाषणों का लाभ उठाया जा सके । कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक भी इस अवसर पर की जाने वाली थी । परन्तु सरकारी अधिकारियों ने इसका कुछ और ही अर्थ लिया । उन्होंने समझा कि कांग्रेसी नेता विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं और यह विवाह तो केवल एक भुलावा-मात्र है । कहा जाता है कि उस समय इलाहाबाद के अंग्रेज़ काफ़ी आतंकित हो गये थे, और उन्होंने अपने बचाव की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं ।

परन्तु उनका भय निर्मूल था । कोई षड्यंत्र था ही नहीं । विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हुआ । विवाह के बाद विजयलक्ष्मी कुछ समय के लिये अपने पति के साथ राजकोट चली गई । बाद में वह इलाहाबाद आकर मोतीलाल जी के ही निवास-स्थान आनन्द-भवन में रहने लगीं ।

स्वाधीनता संग्राम में—

उन दिनों सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन ज़ोरों पर था । मोतीलाल जी और जवाहरलाल जी दोनों गिरफ़्तार किये जा चुके थे । आनन्द-भवन का सारा भार विजयलक्ष्मी के ही सिर था । पुलिस आये दिन आनन्द-भवन पर छापे मारती, तलाशी लेती और कभी-कभी जुर्माने की वसूली के लिये क़ीमती चीज़ें उठा ले जाती थी । पुलिस वालों की इन करतूतों से परेशान होकर कभी-कभी घर के नौकर सिपाहियों से उलझने को तैयार हो जाते, किन्तु विजयलक्ष्मी उन्हें सत्याग्रह और अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त समझा कर शान्त करतीं ।

पहला सत्याग्रह आन्दोलन समाप्त हो गया था। उसके बाद कांग्रेस की कुटिल नीति के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये थे। अंग्रेज़ों ने समझ लिया था कि हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता उनके लिये बहुत हानिकर सिद्ध होगी। इसलिये वे दोनों को भड़का कर एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ा रहे थे। विजयलक्ष्मी ऐसे समय देश से बाहर जाना चाहती थीं। उन्हीं दिनों जवाहरलाल जी की पत्नी कमला का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। डाक्टरों ने चिकित्सा के लिये उन्हें यूरोप ले जाने की सलाह दी। १६२६ ई० में जवाहरलाल जी, उनकी पत्नी कमला, पुत्री इन्दिरा और बहिन विजयलक्ष्मी ये सब यूरोप चले गये।

इस यात्रा में विजयलक्ष्मी ने यूरोप के कई देशों का भ्रमण किया। यूरोप की यात्रा वह एक बार बचपन में भी कर चुकी थीं, किन्तु अब उनमें सब चीज़ों को समझने की बुद्धि थी। यह यात्रा उनके लिये अत्यन्त ज्ञानवर्धक सिद्ध हुई।

१६३० ई० के सत्याग्रह में भाग—

३१ दिसम्बर १६२६ ई० की रात को जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर कांग्रेस में वह महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ जिसके अनुसार पूर्ण स्वाधीनता को भारत का लक्ष्य घोषित किया गया था। इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने का भार गांधी जी को सौंपा गया था। गांधी जी ने इस उद्देश्य के लिये नमक-सत्याग्रह प्रारम्भ किया था। यह आन्दोलन अत्यन्त व्यापक हुआ। जवाहरलाल जी तो गिरफ़्तार हो गये थे, और मोतीलाल जी बीमार थे। पुलिस बीच-बीच में आनन्द-भवन पर छापे मारती रहती थी। विजयलक्ष्मी इस समय आन्दोलन में खुल-कर भाग लेने लगीं। वह अपनी छोटी बहन कृष्णा और अपनी पुत्रियों को साथ लेकर विदेशी माल बेचने वाली दूकानों पर धरना देती थीं।

इस आन्दोलन के सिलसिले में आपको बहुत परिश्रम करना पड़ा। किन्तु आप उनसे घबराई नहीं।

सरकार की नेहरू परिवार पर कैसी कोपदृष्टि थी, यह इस बात से स्पष्ट है कि यद्यपि मोतीलाल जी इस समय बीमार थे, और प्रत्यक्ष रूप से आन्दोलन में कोई भाग नहीं ले रहे थे, फिर भी उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। विजयलक्ष्मी के पति श्री रणजीत सीताराम पंडित भी गिरफ़्तार कर लिये गये। बाद में जब मोतीलाल जी की बीमारी इतनी बढ़ गई कि उनका बच पाना असम्भव दिखाई पड़ने लगा, तो सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। किन्तु वह बच नहीं सके। २ फ़रवरी १९३१ ई० को लखनऊ में उनका स्वर्गवास हो गया। मोतीलाल जी ने जिस प्रकार अपने आप को देश के लिये बलिदान कर दिया था, उसका विजयलक्ष्मी पर बहुत प्रभाव पड़ा।

पहली जेल-यात्रा—

१९३० ई० के सत्याग्रह का अन्त गांधी-इर्विन समझौते द्वारा हुआ। गांधी जी गोलमेज़ कानफ्रेंस में भाग लेने गये। वह वहां से असफल लौटे और उन्होंने भारत वापस आकर यहां फिर सत्याग्रह छेड़ दिया। २६ जनवरी के दिन इलाहाबाद में एक विशाल सभा हुई। इस सभा का सभापतित्व जवाहरलाल जी की माता स्वरूपरानी जी ने किया। इस सभा में विजयलक्ष्मी और उनकी छोटी बहिनें कृष्णा ने भाषण देकर सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध को तोड़ा। उससे अगले दिन दोनों बहनें गिरफ़्तार कर ली गईं। धनी पिता के घर में ऐश्वर्य में पली हुई लड़कियों के लिये जेल का जीवन बहुत असुविधाजनक था। उन्हें अपने कपड़े खुद धोने पड़ते थे। भोजन बहुत ख़राब मिलता था। किन्तु सत्याग्रह करने वाले को इन असुविधाओं का सामना करने का दृढ़ संकल्प तो करना ही पड़ता है।

लगभग एक साल बाद विजयलक्ष्मी जेल से छूट कर बाहर आईं।

सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित हो गया था। कुछ समय विजयलक्ष्मी ने अपनी बिखरी हुई गृहस्थी को संवारने में लगाया।

चुनावों में सफलता और मंत्रित्व—

१९३७ ई० में नये विधान के अनुसार प्रान्तों में विधानसभाओं के चुनाव हुए थे। कांग्रेस ने इन चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया था। विजयलक्ष्मी कानपुर बिजनौर क्षेत्र से उम्मीदवार के रूप में चुनाव के लिये खड़ी हुई। उनके मुकाबले में हिन्दू-महासभा के नेता श्री ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव की पत्नि कैलाश श्रीवास्तव खड़ी हुई थीं। कहा जता है कि कैलाश श्रीवास्तव को जिताने के लिये उस समय की सरकार ने बहुत प्रयत्न किया था। पर उस प्रयत्न का कोई लाभ नहीं हुआ। विजयलक्ष्मी बहुत अधिक वोटों से चुनाव में जीत गईं।

जब उत्तर-प्रदेश में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना तब आपको स्वास्थ्य-विभाग, तथा स्थानीय-स्वशासन का विभाग सौंपा गया। आप भारत में सबसे पहली स्त्री मंत्री थीं। लोगों को भय था कि आप इस काम को सफलतापूर्वक नहीं कर पायेंगी, किन्तु आपने अपने कार्य को बहुत अच्छी तरह निभाया। दूसरा विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर १९३९ ई० में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये।

१९३८ ई० में एक ही दिन आपकी माता जी और मौसी जी का देहावसान हो गया। प्रेम की एक मधुर छाया उनके सिर पर से उठ गई। इसका आघात काफी गहरा रहा।

फिर जेल यात्रा—

१९४२ ई० में जब कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ किया तो तुरन्त कांग्रेसी नेताओं की धर-पकड़ प्रारम्भ हो गई। अधिकांश बड़े नेता तो ९ अगस्त को ही बम्बई में गिरफ्तार कर लिये गए थे। जो बच गये थे, वे भी धीरे-धीरे पकड़े गये। विजयलक्ष्मी १२ अगस्त को गिरफ्तार की गईं। उनके पति श्री रणजीत सीताराम पंडित और पुत्री लेखा भी कुछ

दिनों बाद पकड़ ली गईं। केवल छोटी लड़की रीता ही जेल से बाहर रह गई। विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९४५ ई० में कांग्रेसी नेता छोड़ दिये गये।

इन्हीं दिनों विजयलक्ष्मी के पति श्री रणजीत सीताराम पंडित का स्वर्गवास होगया। यह आपके लिए जीवन में सबसे बड़ी चोट थी। पर इसे सह लेने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था। यह विजयलक्ष्मी का ही धैर्य था कि इस आघात से उनका हृदय टूट नहीं गया। कुछ ही समय बाद वह फिर देश-सेवा के क्षेत्र में आ गईं।

विश्वयुद्ध की समाप्ति हो जाने पर आप अमेरिका गईं। उन दिनों सानफ्रांसिस्को में संसार के अनेक देशों का एक सम्मेलन हो रहा था, जिसमें संयुक्त-राष्ट्र-संघ की रूप-रेखा तैयार की जा रही थी। इस सम्मेलन में पहुँच कर विजयलक्ष्मी ने विदेशों के प्रतिनिधियों के सम्मुख भारत की राजनीति का वास्तविक रूप प्रस्तुत किया।

१९४६ ई० में प्रान्तों में फिर लोकप्रिय मंत्रिमंडल बन गये थे। नये चुनावों में विजयलक्ष्मी फिर सफल रहीं और आप फिर उत्तर-प्रदेश के मंत्रिमंडल में मंत्री बनीं। आपको वही पुराने विभाग सौंपे गये।

प्रथम महिला राजदूत—

जब भारत स्वाधीन हो गया, तो केन्द्र में श्री जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री बने। भारत की स्वतंत्र सरकार के लिये संसार के सब बड़े-बड़े देशों में अपने राजदूत नियुक्त करना आवश्यक था। राजदूत ऐसे होने चाहियें, जो भारत के सच्चे प्रतिनिधि हों। साथ ही वे अपनी योग्यता से दूसरे देशों के प्रतिनिधियों को प्रभावित भी कर सकें। युद्ध के पश्चात् अमेरिका संसार का सबसे अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली देश बन गया है। भारत सरकार ने श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को अमेरिका में अपना राजदूत नियुक्त किया। इस पद पर रहकर विजयलक्ष्मी ने

उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त की, जितनी उन्हें मन्त्रीपद पर कार्य करते हुए प्राप्त हुई थी।

अमेरिका के पश्चात् आप सोवियत रूस में भी भारत की राजदूत बनकर कार्य करती रही हैं। रूस में रहकर आपने रूस के साथ भारत के सम्बन्धों को घनिष्ठ और मित्रतापूर्ण बनाने में अत्यधिक सहयोग दिया। कुछ वर्ष तक इस पद पर कार्य करने के बाद आप फिर भारत लौट आईं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रधान—

इन दो देशों में राजदूत के पद पर कार्य करते हुए विजयलक्ष्मी की योग्यता सबके सामने प्रकट हो गई थी। अब उन्हें एक और महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण होने के समय से ही भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत को अपने योग्यतम प्रतिनिधि भेजने होते हैं। भारत सरकार ने विजयलक्ष्मी को संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा। संयुक्त राष्ट्र संघ में सभी देशों के प्रतिनिधि आप से इतने अधिक प्रभावित हुए कि एक बार आपको संयुक्त राष्ट्र संघ का अध्यक्ष चुना गया। आज के युग में इस से बड़ी सफलता और क्या हो सकती है ?

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित का जीवन त्याग, संघर्ष और कष्ट सहिष्णुता का जीवन रहा है। एक सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर देश की स्वाधीनता के लिये आपने जानबूझ कर विपत्ति और कष्टों को निमंत्रित किया। अपने यशस्वी परिवार के अन्य सदस्यों के साथ-साथ आपने भी स्वाधीनता संग्राम की सब विपत्तियां सहीं। अपने उदाहरण से आपने दिखा दिया कि स्त्रियाँ भी यदि चाहें तो पुरुषों के समान ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ सकती हैं।

तपस्या और साधना की कसौटी पर आप खरी उतरीं। संघर्ष का समय समाप्त हुआ। स्वाधीनता-संग्राम में सफलता मिलने के बाद आप-

ने अपनी योग्यता से यह प्रमाणित कर दिया कि स्वाधीनता प्राप्त करने का उनका आग्रह जितना अधिक था, उतनी ही स्वाधीनता का उपभोग करने की क्षमता भी है।

श्रीमती विजयलक्ष्मी ने जितनी सफलता प्राप्त की है, वह भारत की स्त्रियों के लिये तो अद्भुत् है ही, सारे संसार की स्त्रियों के लिये भी बिलकुल नई वस्तु है। श्रीमती विजयलक्ष्मी भारत में मंत्रिपद संभालने वाली सर्वप्रथम महिला थीं। विदेश में किसी देश की राजदूत बनकर जाने वाली आप सारे संसार में प्रथम महिला हैं। उन्होंने न केवल भारतीय महिलाओं का मस्तक गर्व से उन्नत कर दिया है, अपितु साथ ही भारतीय महिलाओं के लिये एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने एक मार्ग दिखा दिया है, जिस पर चल कर कोई भी महिला उन्नति के चरम-शिखर तक पहुँच सकती है।

वनस्पतियों में चेतनता के आविष्कारक—

डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु

'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।'

ज्ञान के क्षेत्र में भारत ने प्राचीन-काल में अत्यधिक उन्नति की थी, किन्तु अनेक कारणों से यहाँ विज्ञान का उस रूप में विकास न हो पाया था, जिस रूप में गत दो शताब्दियों में यूरोप में आ। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, परन्तु प्राचीन भारत में अन्न और वस्त्र इतना पर्याप्त होता था कि लोगों को नये-नये आविष्कारों के लिए चिन्तित नहीं होना पड़ता था। सम्भवतः वे लोग आविष्कारों के दुष्परिणामों को भी भलीभाँति पहचानते थे। यही कारण है कि ज्योतिष और आयुर्वेद जैसे क्षेत्रों में आश्चर्यजनक अनुसन्धान करके भी उन्होंने भौतिकी और रसायन-शास्त्र के क्षेत्र में परीक्षणों को आगे नहीं बढ़ाया।

स्वाभिमान के लिये सत्याग्रह--

किन्तु जब वर्तमान युग में सब ओर विज्ञान का ही बोलबाला हो गया, तो विज्ञान में पिछड़ा होने के कारण यूरोपियन विद्वानों की यह धारणा बन गई कि भारत के निवासी विज्ञान सीख ही नहीं सकते और न वे विज्ञान के क्षेत्र में नया अनुसन्धान ही कर सकते हैं। यही कारण था कि सन् १८८५ ई० में जब श्री जगदीशचन्द्र वसु को कलकत्ता के प्रैज़ीडैंसी कालेज में भौतिकी-शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया, तो बंगाल के अंग्रेज़ शिक्षा मंचालक ने उनसे कहा—"प्रोफेसर आप अवश्य नियुक्त हो गये हैं, किन्तु आप भारतीय हैं। इस पद पर एक अंग्रेज़ को जो वेतन मिलता, आपको उसका केवल दो तिहाई दिया जा सकता है। और अभी आप की नियुक्ति अस्थायी तौर पर हुई है, अतः आपको इस पद के लिये निर्धारित वेतन का केवल आधा ही दिया जा सकता है; इससे अधिक नहीं।"

शिक्षा-संचालक ने तो निर्णय दे ही दिया था, यदि जगदीशचन्द्र वसु भी इस निर्णय को चुपचाप स्वीकार कर लेते, तो यह बात मानी हुई समझी जाती कि सचमुच ही भारतीय यूरोपियन लोगों की अपेक्षा विज्ञान को सीखने और समझने में कम समर्थ हैं। परन्तु जगदीशचन्द्र वसु ने इस निर्णय को मानने से इनकार कर दिया। अपने वेतन का निश्चय कर पाना उनके अपने हाथ में नहीं था; पर उन्होंने कहा, "आधा वेतन लेने के बजाय मैं वेतन बिलकुल न लेना पसंद करूँगा। वेतन लूंगा, तो पूरा लूंगा, या बिलकुल न लूंगा। पर काम मैं करता रहूँगा।"

और सचमुच ही वह बिना वेतन लिए काम करने लगे। प्रतिमास उनके पास वेतन की राशि का चैक आता था और उसे वह ज्यों का त्यों वापस लौटा देते थे। इस प्रकार जगदीशचन्द्र वसु ने एक नहीं, दो नहीं, तीन साल बिता दिए। इसमें उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु यह

कष्ट उस अपमान को सहने की अपेक्षा कहीं भला था, जो उन्हें आधा वेतन लेकर अनुभव होता।

उनका नया-नया विवाह हुआ था। स्वभावतः ऐसे समय व्यक्ति को आमोद-प्रमोद के लिए पैसे की अधिक आवश्यकता होती है। परन्तु जगदीशचन्द्र अपने संकल्प से विचलित न हुए। आर्थिक कठिनाई के कारण उन्हें शहर का मकान छोड़कर हुगली-पार एक छोटी सी बस्ती में मकान ले लेना पड़ा, जहाँ से वह रोज नाव से नदी पार करके कालिज आते थे। उनकी पत्नी श्रीमती अबला वसु बहुत विवेकपूर्ण और धैर्यशील सिद्ध हुई। उसने सारी कठिनाइयों को हंसते हुए सहा और जगदीशचन्द्र का धीरज बंधाए रखा।

जगदीशचन्द्र का अध्यापन-कार्य अत्यन्त सन्तोषजनक था। विद्यार्थी उनसे बहुत प्रसन्न थे। उनके साथ काम करने वाले प्रोफेसर उनका आदर करते थे।

सत्याग्रह की सफलता—

आखिर तीन साल बाद शिक्षा संचालक और कालेज के प्रिंसिपल, दोनों का हठ टूटा। यद्यपि वे दोनों अंग्रेज थे, किन्तु उन्होंने जगदीशचन्द्र के आग्रह की सत्यता को स्वीकार कर लिया। जगदीशचन्द्र को उस पद के लिये स्वीकृत वही वेतन दिया जाना नियत हुआ, जो अंग्रेज प्रोफेसर को दिया जाता। इतना ही नहीं, पिछले तीन साल का वेतन भी उन्हें पूरे वेतन के हिसाब से दिया गया। इस विजय से जगदीशचन्द्र वसु को कितना आनन्द हुआ होगा, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है। यह जगदीशचन्द्र की व्यक्तिगत विजय तो थी ही, साथ ही यह उनके जातीय गौरव की भी विजय थी। यह स्वीकार कर लिया गया था कि एक भारतीय वैज्ञानिक भी उतना ही योग्य और गुणी हो सकता है, जितना कोई भी यूरोपियन वैज्ञानिक।

श्री जगदीशचन्द्र वसु का जन्म पूर्वी बंगाल के ढाका ज़िले में रानी-

खाल गाँव में ३० नवम्बर १८५८ ई० को हुआ था। उनके पिता श्री भगवानचन्द्र वसु ज़िले के डिप्टी-कलैक्टर थे। सुशिक्षित होने के साथ-साथ वह स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे। किताबी शिक्षा में उनका विश्वास न था। शिल्प तथा औद्योगिक शिक्षा के प्रति उनका इतना तीव्र अनुराग था कि उन्होंने अपनी ओर से पैसा व्यय करके एक से अधिक औद्योगिक शिक्षणालयों की स्थापना की थी।

अपनी संस्कृति से प्रेम—

जगदीशचन्द्र का बाल्य-काल बड़े सुख और आनन्द में व्यतीत हुआ। चार वर्ष की आयु में ही उन्हें पाठशाला में पढ़ने के लिये भेजा गया। इससे स्पष्ट है कि उनके पिता के मन में डिप्टी-कलैक्टर होने के बाद भी अपनी संस्कृति के प्रति गहरा प्रेम था। जगदीशचन्द्र वसु कभी-कभी बाद में कहा करते थे "उस पाठशाला में पढ़ने से मुझे बहुत लाभ हुआ। वहां मैंने अपनी भाषा सीखी; अपने साहित्य से प्रेम करना सीखा। अपने साहित्य को पढ़ कर मैंने अपने देश की प्राचीन गौरवपूर्ण परम्पराओं को और संस्कृति को पहचाना। 'सत्यमेव जयते' की भावना मेरे मन में पाठशाला में अध्ययन करते समय ही बद्धमूल हो गई थी।" यदि जगदीशचन्द्र वसु को सचमुच ही यह प्राप्ति पाठशाला से हुई हो, तो इसे किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता। भावी जीवन में संघर्ष और विजय के लिये यह बहुत बड़ी पूंजी थी।

पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने के बाद जगदीशचन्द्र को कलकत्ता के सेंट ग्जेवियर कालिजियेट स्कूल में भेज दिया गया। यहां रहकर उन्होंने मैट्रिक परीक्षा प्रथम वर्ग में पास की। १८८०ई० में उन्होंने बी०ए० परीक्षा भी पास कर ली। कालेज में रहते हुए उनकी रुचि भौतिकी-विज्ञान की ओर हो गई। उन्हें भौतिकी विज्ञान की परीक्षणशाला बहुत अच्छी मालूम होती थी। वहाँ रखे हुए सूक्ष्म यन्त्र उन्हें बहुत प्यारे लगते थे। परन्तु उस समय किसी को यह कल्पना भी नहीं थी कि यह साधारण

सा विद्यार्थी किसी दिन एक महान् वैज्ञानिक बनेगा।

बी०ए० पास करने के बाद जगदीशचन्द्र ने आई० सी० एस०, की परीक्षा पास करने के लिये इंग्लैड जाने का विचार किया। उन दिनों पैसे वाले सुशिक्षित मां-बाप के लड़के ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाने के लिये विलायत जाकर परीक्षाएँ देते थे। इससे प्रतिष्ठा और अधिकार दोनों मिल जाते थे। जगदीशचन्द्र भी कोई अपवाद न थे। किन्तु उनके पिता अपवाद थे। वह चाहते थे कि उनका पुत्र देश की सेवा करे और देश की सबसे अच्छी सेवा, उनके विचारों के अनुसार, शिक्षक बन कर की जा सकती थी। वह चाहते थे कि उनका पुत्र विद्वान् और शिक्षक बने। किन्तु वह कितना बड़ा विद्वान् और शिक्षक बन जायगा, इसकी उन्होंने कल्पना भी न की थी। सत्य स्वप्न की भी सीमा को लांघ गया।

विज्ञान की ओर झुकाव—

जगदीशचन्द्र को आई० सी० एस० बनने का विचार छोड़ देना पड़ा। परन्तु इंग्लैंड वह अवश्य जाना चाहते थे। अन्त में चिकित्सा या विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वह इंग्लैंड गये। वहाँ कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की और १८८४ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से बी-ऐस० सी० की परीक्षा पास की। वहाँ उन्हें सुयोग्य वैज्ञानिकों के साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ।

जब वह इंग्लैंड में थे, तब उनके पिता की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। उनके लिये जगदीशचन्द्र की शिक्षा का व्यय संभाल पाना कठिन हो गया। उस समय जगदीशचन्द्र की माता जी ने अपने गहने बेच कर उनको पैसा भेजा। जगदीशचन्द्र भी सम्भवतः परिस्थिति को जानते थे। उन्होंने अध्ययन में जितना परिश्रम किया, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि माता द्वारा भेजे पैसे का सदुपयोग ही हुआ।

इंग्लैंड से वापस लौट कर १८८५ ई० में वह प्रैजीडेंसी कालेज में

भौतिकी-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। वहाँ तीन वर्ष के सत्याग्रह के पश्चात् उन्हें वेतन तो पूरा मिलने लगा था, किन्तु कालेज की प्रयोगशाला उनकी दृष्टि में अत्यन्त असन्तोषजनक थी। उसे सुधरवाने के लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न किया। परन्तु जब तक कालेज की प्रयोगशाला न सुधरे, तब तक वह प्रतीक्षा करते नहीं रह सकते थे। उन्हें जब पिछले तीन वर्षों का वेतन इकट्ठा मिला, तो उससे उन्होंने अपने घर में ही एक अच्छी प्रयोगशाला तैयार करली।

विज्ञान में उनकी बड़ी रुचि थी। वह नित्य नये परीक्षण करते रहते थे। उन्होंने विद्युत् की तरंगों के सम्बन्ध में बहुत से परीक्षण किये और कई नई बातों का पता चलाया। अपने अनुसन्धानों का विवरण उन्होंने इंग्लैंड की रॉयल सोसाइटी को भेजा। वहाँ उसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया। रॉयल सोसाइटी ने उन्हें पुरस्कार दिया और लंदन विश्वविद्यालय ने उनकी नई खोज से प्रभावित होकर उन्हें 'डाक्टर आफ़ साइन्स' की उपाधि दी।

बेतार यंत्र का आविष्कार—

डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु को अनुसन्धान-कार्य जारी रखने के लिये काफ़ी धनराशि भी दी गई। इससे उनका उत्साह और बढ़ा। उनकी धारणा थी कि बिना तार के भी सन्देश उसी प्रकार भेजे जा सकते हैं, जैसे उस समय तक तार द्वारा भेजे जाते थे। किन्तु उस समय तक वह धन के अभाव में इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने में असमर्थ थे। अब उन्होंने इस क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ किया।

किन्तु इस दिशा में अमेरिका में निकोला टेसला, इंग्लैंड में सर ऑलिवर लॉज और इटली में गुग्लियेल्मो मारकोनी भी काम कर रहे थे। फिर भी जगदीशचन्द्र वसु सबसे पहले बेतार यंत्र बनाने में सफल हुए। परन्तु पराधीन देश का नागरिक होने के कारण वह अपनी सफलता को ठीक समय पर संसार के सम्मुख प्रस्तुत न कर सके और

पश्चिमी देशों ने यह मान लिया कि मारकोनी ने ही सर्वप्रथम बेतार यंत्र का आविष्कार किया था।

उसके बाद जगदीशचन्द्र वसु ने अपनी प्रतिभा एक और अद्भुत परीक्षण द्वारा व्यक्त की। उन्होंने कलकत्ता के टाउनहाल में बहुत से प्रतिष्ठित लोगों की उपस्थिति में 'ईथर' की तरंगों द्वारा बिना तार की सहायता के एक घन्टी को बजा कर दिखाया। उन्होंने दूसरे कमरे में रखे हुए एक बारूद से भरे बम का विस्फोट भी बिना किसी तार के स्पर्श के, केवल ईथर की तरंगों द्वारा करके दिखा दिया। यह सब उन्होंने १८९५ ई० में, अब से साठ साल पहले किया था और तब यह सब जादू से किसी प्रकार कम विस्मयजनक नहीं था। उनकी ख्याति कुछ ही दिनों में सारे संसार में फैल गई।

वनस्पतियाँ सजीव हैं—

जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पतियों पर भी परीक्षण किये। उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने देखा कि पेड़-पौधों में भी जीवन की सब प्रक्रियाएं उसी प्रकार होती हैं, जैसे पशुओं और मनुष्यों में। उन्होंने परीक्षणों द्वारा पता चलाया कि पेड़-पौधे भी सोते-जागते और सुख-दुःख को अनुभव करते हैं। उनमें विवाह भी होते हैं। कष्ट के अवसर पर वे उदास होते हैं और कुछ विशेष समयों पर खूब प्रसन्न रहते हैं। इतना ही नहीं; प्राणियों में जैसे रक्त-संचार हृदय की धड़कन द्वारा होता है, वैसे ही पौधों में भी पानी जड़ों में से धड़कन के द्वारा ऊपर चढ़ता है। उन्होंने अपने सूक्ष्म् यंत्रों द्वारा पौधों के श्वास-प्रश्वास, और वृद्धि को भी नाप कर दिखाया। उनके 'क्रैस्कोग्राफ़' यन्त्र द्वारा पौधों की ये चेष्टाएं एक लाख गुणी बड़ी होकर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगती हैं।

'वनस्पति-जगत् भी प्राणीजगत् की भांति चेतन है' उनकी यह स्थापना पश्चिमी वैज्ञानिकों के लिये बिलकुल नई थी। परन्तु इस सत्य

का प्रदर्शन परीक्षणों द्वारा किया जा सकता था। सन्देह की गुंजाइश ही न थी। जगदीशचन्द्र वसु ने तो यहां तक कहा है कि बिलकुल जड़ और अचेतन समझे जाने वाले पत्थर और लोहे जैसे पदार्थों में भी चेतना सुप्त दशा में विद्यमान् है; वे भी थकते हैं और विश्राम करते हैं। जीवन सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।

इतनी अविश्वसनीय कल्पना ! पश्चिमी वैज्ञानिकों ने कहा—"यह सब गप है।" परन्तु जिस व्यक्ति को वैज्ञानिक-जगत् में पहले ही बहुत आदर मिल चुका हो, उसकी बात को एकाएक गप कह कर उड़ाया नहीं जा सकता। उनके कथन को प्रमाणित करवा कर स्वीकार या अस्वीकार करना होगा।

विदेशों में सम्मान—

अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों ने डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु को निमंत्रित किया कि वह वहाँ आकर भाषण दें, और अपने अद्भुत परीक्षणों का प्रदर्शन करें। डाक्टर वसु अपने अनेक सूक्ष्म यन्त्रों को साथ लेकर इस ज्ञान-प्रसार यात्रा पर निकले। वह यूरोप, अमेरिका, जापान और मिस्र के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में गये। उनके व्याख्यान सुनकर और परीक्षण देख कर वैज्ञानिक स्तम्भित रह गये। उन्हें और भी अधिक आश्चर्य तब हुआ, जब उन्हें मालूम हुआ कि इन सब सूक्ष्म और सुकुमार यन्त्रों का निर्माण भारत में ही हुआ है। जगदीशचन्द्र वसु पर सम्मान-सूचक उपाधियों की वर्षा सी कर दी गई। लंदन की रॉयल सोसाइटी ने उन्हें अपना 'फैलो' चुना। भारत सरकार ने उन्हें 'नाइट' की उपाधि दी। अनेक प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों ने 'डाक्टर आफ़ साइन्स' की उपाधि से उन्हें विभूषित किया।

१९१३ ई० में जगदीशचन्द्र वसु की आयु ५५ वर्ष हो गई थी और सरकारी नियम के अनुसार उन्हें सेवा से अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिये था, किन्तु उनका कार्य-काल दो वर्ष के लिये और बढ़ा दिया

गया। उसके बाद रिटायर होने पर भी उनकी योग्यता का आदर करते हुए सरकार ने उन्हें प्रोफेसर पद दिये रखा और उन्हें उस पद का पूरा वेतन प्रतिमास मृत्यु पर्यन्त मिलता रहा।

१६१७ ई० में जगदीशचन्द्र वसु ने कलकत्ता में 'वसु प्रतिष्ठान' की स्थापना की। एक भव्य और विशाल भवन इस प्रतिष्ठान के लिये बनाया गया, जो अब वैज्ञानिक अनुसन्धान का एक उत्तम केन्द्र बन गया है। जगदीशचन्द्र वसु ने इस संस्था के लिये बीस लाख रुपया एकत्र करके दिया। वह स्वयं बीस वर्ष तक इस प्रतिष्ठान का संचालन करते रहे। इस समय इस प्रतिष्ठान में विज्ञान का अध्ययन करने के लिये विदेशों तक से विद्यार्थी आते हैं। एक वैज्ञानिक का इससे अच्छा स्मारक और क्या हो सकता है!

जगदीशचन्द्र वसु की आय बहुत अच्छी थी; किन्तु वे अपने रहन-सहन पर बहुत कम व्यय करते थे। उनकी आय का आधे से अधिक भाग संस्थाओं और योग्य छात्रों को दान के रूप में ही चला जाता था। यद्यपि वह कोई व्यापारी सेठ न थे, फिर भी उन्होंने लाखों रुपये दान किये।

२३ नवम्बर १६३७ ई० को हृदय की गति बन्द हो जाने से उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय उनकी आयु ७२ वर्ष थी।

डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु का संसार के वैज्ञानिक-क्षेत्र में वैसा ही आदर था, जैसा राजनीतिक-क्षेत्र में महात्मा गांधी का था। अपनी विलक्षण प्रतिभा और कठोर अध्यवसाय द्वारा उन्होंने केवल भारत का ही नाम उज्ज्वल नहीं किया था, अपितु मानव-जाति की महान् सेवा भी की थी।

विलक्षण मेधावी—

श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन

'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।'

इस समय डाक्टर चन्द्रशेखर वेंकटरमन भारत के जीवित वैज्ञानिकों में आयु और प्रतिभा दोनों की ही दृष्टि से सबसे बड़े हैं। वैज्ञानिक विषय पर विश्व-प्रसिद्ध नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले आप प्रथम भारतीय हैं। श्री रमन ने जो वैज्ञानिक खोज की है, उसका आदर सारे संसार में हुआ है। आपको विज्ञान से गहरा प्रेम है और आपने सारा जीवन विज्ञान की ही साधना में बिता दिया है ।

श्री रमन का जन्म एक विद्याव्यसनी परिवार में हुआ। उनके पिता श्री चन्द्रशेखर अय्यर त्रिचनापल्ली के एक विद्यालय में अध्यापक थे। बाद में वह अपने परिश्रम और अध्यवसाय से कालेज में प्रोफेसर हो गये थे। उन्हें गणित और भौतिकी-विज्ञान के प्रति विशेष अनुराग था। इसके साथ ही खगोल विज्ञान और संगीत में भी उनकी रुचि थी।

विज्ञान और संगीत के प्रति प्रेम श्री रमन को अपने पिता से ही प्राप्त हुआ।

श्री रमन की माता श्रीमती पार्वती अम्मल भी प्रसिद्ध 'शास्त्री-परिवार' की कन्या थीं। यह परिवार अपने संस्कृत के ज्ञान के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। श्रीमती पार्वती अम्मल बहुत भद्र और धैर्यशील स्वभाव की महिला थीं। वह अपने बच्चों से बहुत प्रेम करती थीं। दृढ़ संकल्प उनके स्वभाव का विशेष गुण था। जिस काम को करने की वह ठान लेती थीं, उसे वह करके ही छोड़ती थीं।

इस परिवार में ७ नवम्बर १८८८ ई० को बालक रमन का जन्म हुआ। गुणी होने पर भी परिवार बहुत धनी नहीं था। वे साधारणतया खाते-पीते लोग थे। परन्तु धन की अल्पता की पूर्ती माता-पिता के स्नेह और देख-रेख से हो जाती थी। उनके संरक्षण में रहकर बालक रमन शीघ्र ही इतना पढ़ना-लिखना सीख गया, जितना उसकी आयु के लड़के साधारणतया नहीं सीख पाते।

अद्भुत प्रतिभा—

माता-पिता की देख-रेख और प्रोत्साहन के अतिरिक्त बालक रमन की बुद्धि स्वयं अत्यन्त तीव्र थी। वह प्रत्येक विषय को बहुत सरलता से समझ लेता था और समझी हुई वस्तु को आसानी से याद रख लेता था। बारह वर्ष की आयु पूरी होने से पहले ही उसने मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। साधारणतया दूसरे बालक पन्द्रह या सोलह वर्ष की आयु में मैट्रिक परीक्षा पास करते हैं। दो वर्ष बाद एफ० ए० की परीक्षा पास करके जब वह बी० ए० में प्रविष्ट हुआ, तो उसके प्रोफेसरों को सहसा यह विश्वास ही न हुआ कि वह सचमुच उस कक्षा में पढ़ने के लिये आया है। परन्तु थोड़े से प्रश्नोत्तरों के बाद ही उन्हें मालूम हो गया कि उनका यह सबसे छोटी आयु का विद्यार्थी ज्ञान में कक्षा के अन्य विद्यार्थियों से किसी प्रकार कम नहीं है, उनसे कुछ अधिक ही हो तो हो। अपनी

छोटी आयु, और बुद्धिमत्ता के कारण रमन शीघ्र ही अपने प्रोफेसरों का प्रिय छात्र बन गया ।

बालक रमन की रुचि प्रारम्भ से ही विज्ञान की ओर अधिक थी । गणित का तो उसे विशेष चाव था । साथ ही उसे संगीत भी बहुत प्रिय था । कालेज में शिक्षा प्राप्त करते समय उसका सम्पर्क श्रीमती ऐनीबैसेंट से हुआ और वह उनके थियासोफ़ी के विचारों से प्रभावित हुआ । परन्तु शीघ्र ही थियासोफ़ी की प्रतिक्रिया हुई और रमन की रुचि धार्मिक ग्रन्थों की ओर हो गई । उसने 'रामायण' और 'महाभारत' का अध्ययन किया । परन्तु धर्म का यह तीव्र अनुराग भी बहुत शीघ्र ही जाता रहा । धर्म की ओर से ध्यान हटने पर रमन फिर विज्ञान की ओर झुका । जहाज़ का पंछी फिर जहाज़ पर लौट आया ।

बी०ए० मे रमन ने विज्ञान विषय लिया । वह विज्ञान के अध्ययन में अपना अधिकतम समय लगाता था। बी०ए० में प्रथमवर्ग में उत्तीर्ण होने के कारण रमन को 'अरणी स्वर्ण पदक' मिला । यह पदक भौतिकी शास्त्र में सर्वप्रथम रहने वाले विद्यार्थी को दिया जाता था । इस पदक को प्राप्त करने के बाद रमन की रुचि विशेष रूप से भौतिकी-शास्त्र की ओर हो गई । उसने एम०ए० परीक्षा में भी भौतिकी-विज्ञान को ही अपना मुख्य विषय बनाया ।

नई खोज—

एक दिन की बात है कि रमन का एक सहपाठी प्रयोगशाला में एक परीक्षण कर रहा था । परीक्षण करते समय उस छात्र का ध्यान कुछ ऐसी विचित्र बात की ओर गया जो उस परीक्षण के बीच होनी नहीं चाहिये थी । उसने यह समस्या अपने प्रोफेसर के सामने रखी । प्रोफेसर ने दुबारा परीक्षण किया, और फिर वही विचित्र बात दिखाई पड़ी । प्रोफेसर ने इस उलझन को सुलझाने का बहुत यत्न किया । किन्तु उसे सफलता न मिली । जब रमन को मालूम हुआ, तो उसने उस परीक्षण

को जरा से हेर-फेर के साथ किया; तब वह विचित्र बात दिखाई नहीं पड़ी। रमन ने और कई बार उस परीक्षण को दोनों प्रकार से करके देखा और अन्त में उस विचित्र-सी प्रतीत होने वाली बात का कारण जान लिया।

यदि कोई अन्य छात्र होता, तो वह अपनी इस सफलता को यहीं पर छोड़ देता। परन्तु रमन अत्यधिक मनस्वी और चिन्तनशील छात्र था। उसने अपने इस परीक्षण का विस्तृत विवरण लिखा और अपने प्रोफेसर को दिया कि वह देखकर बतायें, कि यह लेख ठीक बन पड़ा है या नहीं। प्रोफेसर ने वह लेख ले लिया। किन्तु या तो उन्होंने उसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझा और या फिर उन्हें उसे देखने का अवसर नहीं मिला; क्योंकि कई मास बीत जाने पर भी उन्होंने लेख रमन को लौटाया नहीं। किन्तु रमन अपने उस लेख पर अन्य विद्वानों की सम्मति जानने के लिये अधीर था। उसने प्रोफेसर से कहा : "आप वह लेख मुझे लौटा दीजिये। मैं उसे दुबारा नये सिरे से लिखना चाहता हूँ।"

प्रोफेसर से लेकर उसने वह लेख इंग्लैंड के एक पत्र 'फ़िलासोफ़िकल मैगजीन' को भेज दिया। कुछ ही सप्ताह बाद उसे पता चल गया कि उस पत्र ने उसके लेख को प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया है। इस पत्र में लेख छपने से रमन को प्रसन्नता भी हुई और इस प्रकार के लेख लिखने में उसका उत्साह भी बढ़ा। कालेज छोड़ने से पूर्व ही उसके अनेक लेख कई प्रसिद्ध पत्रों में प्रकाशित हो गये थे।

असाधारण सफलता—

श्री रमन ने मद्रास विश्वविद्यालय से एम० ए० परीक्षा प्रथम वर्ग में सर्वप्रथम रह कर पास की। यह बात इस कारण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि इससे पूर्व कोई भी विद्यार्थी इस विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान विषय लेकर प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण नहीं हुआ था। श्री रमन के प्रोफेसर जोन्स उससे बहुत प्रसन्न थे। वह चाहते थे कि

मेधावी छात्र विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड जायं। उन्होंने शिक्षा-विभाग में सिफारिश करके श्री रमन को छात्रवृत्ति दिलवा दी। श्री रमन ने भी इसे सुअवसर समझा। यह सोच कर उनके आनन्द की सीमा न रही कि उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेश जाने का अवसर मिलेगा।

परन्तु सरकार की ओर से जो छात्र विदेश भेजे जाते हैं, उन्हें जहाज़ पर सवार होने से पहले डाक्टर से इस आशय का प्रमाणपत्र ले कर प्रस्तुत करना होता है कि वे शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ और समर्थ हैं। श्री रमन का शरीर कृश और दुर्बल था। डाक्टर ने उन्हें विदेश जाने से लिये अयोग्य बतलाया। उसने श्री रमन से भी कहा—"वहां का जलवायु आप से सहन न हो सकेगा। हो सकता है कि आप वहां जाकर बहुत बीमार पड़ जायं।"

श्री रमन के लिये यह बहुत बड़ा आघात था। उन्नति करने का स्वर्ण अवसर हाथ से निकला जा रहा था। उन्हें अपने जीवन के लिये कोई दूसरा कार्य-क्षेत्र ढूंढना होगा। प्रोफेसर या वकील बन कर वह भी सरलता से जीविका उपार्जन कर सकते थे, परन्तु उनके मन में तो विज्ञान की सेवा की ही धुन समाई थी। फिर भी अब कुछ तो करना ही होगा! उनके सभी हितैषियों ने उन्हें सलाह दी कि वह 'अखिल-भारतीय वित्त प्रतियोगिता परीक्षा' में बैठ जायं।

इस परीक्षा के लिये उन्हें इतिहास, राजनीतिक-अर्थशास्त्र और संस्कृत जैसे विषयों का अध्ययन करना पड़ा, जिन में से कोई तो उनके लिये बिलकुल नया था और कोई उनकी रुचि के बिलकुल प्रतिकूल था। तैयारी के लिये समय भी बहुत कम था। परन्तु श्री रमन ने हिम्मत न हारी। उन्होंने रात-दिन परिश्रम किया। इस परिश्रम का उचित फल भी उन्हें मिला। वह सब परीक्षार्थियों में प्रथम रहे। १८ वर्ष की आयु होते-होते उन्होंने न केवल एम. ए. परीक्षा पास कर ली थी, अपितु इस

प्रतियोगिता परीक्षा को पास करके वह उच्च सरकारी पद प्राप्त करने के भी अधिकारी बन गये थे।

उच्च पद पर नियुक्ति—

श्री रमन की नियुक्ति कलकत्ता में वित्त विभाग में डिपुटी ऐकाउंटेंट जनरल के पद पर हुई। कुछ ही समय बाद उनका विवाह हो गया। उनकी पत्नी का नाम त्रिलोकसुन्दरी है, और वह एक सम्पन्न मद्रासी परिवार की कन्या थी। श्रीमती त्रिलोकसुन्दरी अत्यन्त बुद्धिमती महिला प्रमाणित हुईं और श्री रमन को उनसे सदा अत्यधिक सहायता प्राप्त होती रही।

अब श्री रमन को जीवन की अधिकांश सुविधाएं प्राप्त थीं। वह चाहते तो इन्हीं परिस्थितियों में रहते हुए शान्ति और सन्तोषपूर्वक जीवन बिता सकते थे। परन्तु उनके मन में एक दिव्य असन्तोष की आग भभक रही थी। उन्हें यह अनुभव होता रहता था कि जिस काम को वह करना चाहते हैं, उसे करने का अवसर उन्हें अभी नहीं मिल रहा है। डिपुटी ऐकाउंटेंट जनरल के पद पर काम करते हुए भी उनका मन वैज्ञानिक अनुसन्धान की ओर ही दौड़ता रहता था।

एक बार उन्हें एक सड़क पर से गुजरते हुए एक साइनबोर्ड दिखाई पड़ा, जिस पर लिखा था—'भारतीय विज्ञान विकास संघ'। प्यासे को जैसे पानी मिल गया। वह तुरन्त जाकर इस संघ के मन्त्री से मिले और उससे संघ की वैज्ञानिक प्रयोगशाला में परीक्षण एवं अनुसन्धान करने की अनुमति मांगी। अनुमति सरलता से मिल गई। अब दफ़्तर का काम समाप्त करने के बाद श्री रमन इस प्रयोगशाला में चले आते और वहाँ तरह-तरह के परीक्षण करते रहते। वह अपने परीक्षणों के विवरण और निष्कर्ष लिख कर पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य वैज्ञानिकों के पास भेजते। बहुत शीघ्र ही उनकी गणना कुशल अनुसन्धानकर्त्ताओं में होने लगी।

इस प्रकार श्री रमन सरकारी नौकरी और अपने वैज्ञानिक अनुसन्धान का काम साथ-साथ करते रहे। परन्तु कठिनाइयां एक के बाद एक आती रहीं। सरकारी नौकरों को सदा एक ही स्थान पर रहने की सुविधा नहीं होती। तीन वर्ष तक कलकत्ता में काम करने के बाद श्री रमन को रंगून भेज दिया गया। कलकत्ता छोड़ना उन्हें बहुत अखरा। यहां उन्हें न केवल प्रयोगशाला की सुविधा थी, बल्कि कलकत्ते के प्राय: सभी वैज्ञानिक उनसे परिचित हो गये थे। इसके अतिरिक्त कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी और सर गुरुदास बनर्जी से भी उनका परिचय हो गया था। यह परिचय आगे चलकर उनके लिये अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ।

जब श्री रमन रंगून में थे, तभी उन्हें अपने पिता के स्वर्गवास का समाचार मिला। वह छ: मास का अवकाश लेकर मद्रास आये। पिता का अन्तिम क्रिया-कर्म करने के बाद उनके पास जो समय बच रहा, उसका उपयोग वह अनेक प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण करने में करते रहे। विज्ञान उनके शोक को भुलाने का भी साधन बन गया।

घूम-फिर कर १९११ ई० में श्री रमन का तबादला फिर कलकत्ता के लिये हो गया। कलकत्ता पहुंच कर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें अपने पुराने परिचित मित्रों के साथ रहने और काम करने का अवसर मिला। और उनकी वह 'भारतीय विज्ञान विकास संघ' की प्रयोग-शाला ? उसे वह अभी भूले नहीं थे। कलकत्ता में ही अपना खाली समय वह फिर उन्हीं परीक्षणों में बिताने लगे।

विज्ञान के प्रोफेसर—

१९१९ ई० में कलकत्ता में विश्वविद्यालय की ओर से विज्ञान का कालेज स्थापित किया गया। इस कालेज की स्थापना सर आशुतोष मुखर्जी के प्रयत्न से हुई थी। सर तारकनाथ पालित और डाक्टर

रासबिहारी घोष ने इसके लिये विशाल धन-राशियां दान दी थीं। डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय इस कालेज के सर्वप्रथम संचालक नियुक्त हुए थे। परन्तु भौतिकी-विज्ञान के प्रोफेसर का पद अभी तक रिक्त था।

सर आशुतोष मुखर्जी किसी उपयुक्त व्यक्ति की खोज में थे। श्री-रमन का नाम उनके विचार में आया था; किन्तु श्री रमन एक ऊँचे सरकारी पद पर काम कर रहे थे; उनका वेतन बहुत अच्छा था। उसे छोड़ कर वह प्रोफेसर के पद को स्वीकार करेंगे या नहीं, यह शंका सर आशुतोष मुखर्जी के मन में थी। श्री रमन की योग्यता से वह भली-भाँति परिचित थे और यदि संभव हो, तो उन्हें प्रोफेसर के पद पर ले आना चाहते थे। आखिर एक दिन उन्होंने अपना यह प्रस्ताव श्री रमन के सम्मुख रख ही दिया। यह बात स्पष्ट थी कि कालेज में श्री रमन को उतना वेतन नहीं मिल सकता था, जितना सरकारी पद पर मिल रहा था। परन्तु केवल अधिक वेतन ही तो सब कुछ नहीं है। श्री रमन ने प्रोफेसर बनना स्वीकार कर लिया, और सरकारी नौकरी छोड़ दी।

स्वाभिमान की रक्षा—

सर तारकनाथ पालित अपने वसीयतनामे में यह लिख गये थे कि भौतिकी-विज्ञान का प्रोफेसर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाय, जिसने विदेश जाकर विज्ञान की उच्च-शिक्षा प्राप्त की हो। इसलिये सर आशुतोष मुखर्जी श्री रमन ोध किया कि वह प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होने से पूर्व इंग्लैंड हो आ ं। उच्च शिक्षा पाने के लिये विदेश जाना एक बात है और नौकरी मिलने की शर्त पूरी करने के लिये विदेश जाना बिलकुल दूसरी बात। इस प्रकार की शर्त को स्वीकार करने में श्री रमन को आत्महीनता अनुभव होती। उन्होंने इस शर्त को मानने से इन्कार कर दिया। इस शर्त को स्वीकार करना समस्त भारतीय

प्रतिभा का अपमान होता। पर गर्ज़ कालेज के अधिकारियों की ही थी। आखिर श्री रमन की ही शर्तों पर उन्हें कालेज में प्रोफेसर नियुक्त कर लिया गया।

नये आविष्कार और अनुसन्धान—

कालेज में प्रोफेसर बन जाने पर श्री रमन को उनकी रुचि के अनुकूल काम मिल गया। इसलिये उनकी प्रतिभा को चमकने का उचित अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में अनेक आविष्कार किये और अनेक लेख तथा पुस्तकें लिखीं। प्रकाश और शब्द के संबंध मे उन्होंने ऐसे नये अनुसंधान किए, जिनसे उससे पूर्व की सब धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। इन अनुसन्धानों से पूर्व लोगों को यह मालूम नहीं था कि आकाश नीला क्यों दिखाई देता है, या समुद्र में तैरने वाले हिमशैल नीले-हरे क्यों दिखाई पड़ते हैं ? श्री रमन ने इन रहस्यों का उद्घाटन किया। इस क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी खोज 'रमन–प्रभाव' कही जाती है। इस खोज का महत्त्व इससे स्पष्ट है कि इसी के कारण उन्हें 'नोबल' पुरस्कार मिला था।

इसके अतिरिक्त आपने साबुन के बुलबुलों के अनुसन्धान में भी कई नई बातें खोज निकालीं। संगीत और गायन विद्या के संबन्ध में किए गये उनके अनुसन्धान भी बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि धातुओं में एक वैद्युतिक तरल पदार्थ रहता है, जो निरन्तर गति करता रहता है। इस गति के कारण ठोस और अपारदर्शक समझी जाने वाली धातुओं में भी प्रकाश की किरणों का प्रवेश होता रहता है।

यश की प्राप्ति—

अपनी इन महत्त्वपूर्ण खोजों को करने के बाद श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन ने यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों तथा अन्य वैज्ञा-

निक संस्थाओं के निमंत्रण पर इन महाद्वीपों के अनेक देशों की यात्रा की। वह रूस, जर्मनी, इंग्लैंड, स्वीज़रलैंड, इटली, स्वीडन, कनाडा, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका आदि देशों में जा चुके हैं। इन देशों में जाकर उन्होंने अपने अनुसन्धानों के सम्बन्ध में भाषण दिये। सभी जगह उनका बहुत सम्मान किया गया। अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें 'डाक्टर आफ़ साइन्स' की उपाधि देकर अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया।

१९२९ ई० में श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इटली की विज्ञान परिषद् ने आपको 'मैथ्यूसी पदक' देकर आपका सम्मान किया। इंग्लैंड की रॉयल सोसाइटी ने आपको एक पदक तो दिया ही, साथ अपना 'फैलो' भी बना लिया। १९२९ ई० में भारत सरकार ने अपको 'नाइट' की उपाधि प्रदान की। १९३० ई० में आपको स्वीडन की नोबल पुरस्कार समिति की ओर से भौतिकी विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान पर नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। नोबल पुरस्कार संसार भर में अपने ढंग का सबसे बड़ा पुरस्कार है। नोबल पुरस्कार मिलने के बाद श्री रमन की ख्याति चौगुनी हो गई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञान-कालेज में पूरी अवधि तक काम करने के उपरान्त आपने वहाँ से अवकाश ग्रहण किया। परन्तु निष्क्रि-यता आपके स्वभाव में नहीं है, इसलिये आयु काफी हो जाने पर भी आपने बंगलौर की 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस' (भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान) का कार्य संभाल लिया। आजकल आप इसी संस्था के अध्यक्ष पद पर काम कर रहे हैं। भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धान की यह सर्वश्रेष्ठ संस्था मानी जाती है।

इतना यश और मान पाने पर भी श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन अत्यन्त सरल और निरभिमान व्यक्ति हैं। आपका जीवन बहुत सादा

है। अब भी आप अपने कार्य में वैसा ही परिश्रम करते हैं, जैसा प्रसिद्धि पाने से पहले किया करते थे। आपका जीवन सरस्वती के सच्चे पुजारियों का सा है। आपने अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय के बल से ही इतनी उन्नति की है। उनका जीवन किसी भी युवक के लिये आदर्श बन सकता है।

प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री—

डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय

'उद्यमे श्रीः प्रतिवसति ।'

१८८९ ई० की बात है। डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय कलकत्ता के प्रैसीडैंसी कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए थे। उस समय अंग्रेज़ अफसर भारतीयों के प्रति अवज्ञा प्रकट किया करते थे और सदा अंग्रेज़ों और भारतीयों में ऊंच-नीच का भेद-भाव बनाये रखते थे। इसीलिये डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय को उतना वेतन नहीं दिया गया, जितना उनसे पूर्व उसी पद पर काम करने वाले अंग्रेज़ को दिया जा रहा था। स्वभावतः डाक्टर राय को यह बहुत बुरा लगा। वह इस सम्बन्ध में बात करने के लिये बंगाल के शिक्षा संचालक के पास गये। किन्तु वह भी अंग्रेज़ था। उसने डाक्टर राय के साथ सहानुभूति प्रकट करने के बजाय और जले पर नमक छिड़कते हुए कहा—"यदि आपको अपने रसायन-शास्त्र के ज्ञान पर इतना अभिमान है, तो आप स्वयं रासायनिक

पदार्थों का निर्माण करने वाली कोई संस्था क्यों नहीं खोल लेते ? उसमें आपको अधिक आय हो सकती है ।"

दृढ़ संकल्प—

इससे आगे क्या बात की जा सकती थी ? किन्तु उसी दिन डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय ने संकल्प कर लिया कि चाहे जैसे भी हो, उन्हें रासायनिक-व्यवसाय की संस्था खड़ी करनी ही है । उनका संकल्प दृढ़ था, किन्तु साधन अत्यल्प थे । उनका कुल वेतन २५० रुपये प्रति मास था । उन सस्ते दिनों में यह वेतन बहुत कम नहीं था, परन्तु डाक्टर राय को अपना पैतृक ऋण चुकाना था; बहुत सी राशि उन्हें उसके लिये दे देनी पड़ती थी । फिर कुछ गरीब छात्र उनसे आर्थिक सहायता माँगने आ जाते थे; उन्हें भी वह खाली हाथ नहीं लौटाते थे । उनके अपने खर्च भी थे । ऐसी दशा में रासायनिक-व्यवसाय की संस्था खड़ी करने के लिये अपने वेतन में से पैसा बचा-बचा कर पूंजी एकत्र करना सरल कार्य न था । परन्तु दृढ़ संकल्प के साथ डाक्टर राय पूंजी जुटाने में लग गये । तीन साल तक मितव्ययिता से काम करते रहने के बाद वह ८०० रुपये एकत्र कर पाये । इस छोटी-सी राशि से १८९२ ई० में उन्होंने एक छोटे से मकान में 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' नामक रासायनिक पदार्थों का निर्माण करने वाली संस्था का प्रारम्भ किया । उस समय सारे भारत में यह अपने ढंग की पहली और अकेली संस्था थी ।

अंग्रेज शिक्षा संचालक ने जो यह कहा था कि इस कार्य में काफी आय हो सकती है, गलत नहीं था । कुछ ही दिनों में 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' का काम खूब चल निकला । १९०१ ई० में डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय ने इसे एक लिमिटेड कम्पनी का रूप दे दिया । उस समय इस कम्पनी की पूंजी ५० हजार थी । आज इस कम्पनी की पूंजी ५० लाख से भी अधिक है और यह देश की सबसे बड़ी रासायनिक संस्थाओं में से एक

है। वस्तुतः 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय की प्रतिभा, दृढ़ संकल्प और अध्यवसाय का ही फल है।

प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को खुलना जिले के 'रसली कातीपाड़ा' नामक एक छोटे से गांव में हुआ था। यह स्थान बंगाल में है। प्रफुल्लचन्द्र राय के पिता श्री हरिश्चन्द्र राय अच्छे सुशिक्षित और सम्पन्न ज़मींदार थे। उनमें सार्वजनिक सेवा और समाज-सुधार की भावना खूब तीव्र थी। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति तो उन्हें ऐसा अनुराग था कि उन्होंने एक अंग्रेजी मिडिल स्कूल अपने घर पर ही खुलवा दिया था। इस पर उन्हें काफी रुपया व्यय करना पड़ता था, परन्तु अपने गाँव के गरीब बालकों को शिक्षित बनाने के लिये रुपया व्यय करने में उन्हें आनन्द ही आता था।

अपने पुत्र प्रफुल्लचन्द्र को भी वह अच्छी से अच्छी शिक्षा देना चाहते थे। प्रफुल्लचन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा इसी स्कूल में हुई। जब प्रफुल्लचन्द्र की आयु नौ वर्ष की हुई, तो उनके पिता अपने सारे परिवार को लेकर कलकत्ता आ गये। बालक की शिक्षा गांव की अपेक्षा कलकत्ते में कहीं अधिक अच्छी हो सकती थी।

मैट्रिक पास करने के बाद प्रफुल्लचन्द्र 'मैट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन' में प्रविष्ट हो गये। यहां रहते हुए उन्हें दो चाव लगे, एक देशभक्ति का; दूसरा विज्ञान का। देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर वह श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, और केशवचन्द्र सेन जैसे नेताओं के सम्पर्क में आये; देशभक्ति का रंग उन पर सारे जीवन चढ़ा रहा। दूसरी ओर, विज्ञान की ओर रुचि हो जाने के कारण वह प्रैसीडेंसी कालिज में जाकर रसायन-शास्त्र सम्बन्धी भाषण सुनने लगे। उन्होंने अपने घर पर ही एक छोटी-सी प्रयोगशाला बना ली जिसमें वह तरह-तरह के परीक्षण किया करते थे।

विज्ञान सीखने की धुन—

विज्ञान के प्रति प्रफुल्लचन्द्र का अनुराग इतना बढ़ा कि उन पर यह

धुन सवार हुई कि वह विदेश जाकर विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करें। अभी उन्होंने बी० ए० परीक्षा भी पास नहीं की थी। उनके पिता की आर्थिक स्थिति भी बहुत दुर्बल हो गई थी। उन्हें काफी ऋण लेना पड़ गया था। अतः विदेश जाने के लिये उनसे सहायता न मिल सकती थी। अन्त में सोच-विचार कर प्रफुल्लचन्द्र ने एक उपाय खोज निकाला। यदि किसी प्रकार वह 'गिलक्राइस्ट छात्रवृत्ति' प्राप्त कर सकें, तो उच्च शिक्षा पाने के लिये इंगलैंड जा सकते थे। इस छात्रवृत्ति के लिये एक खुली प्रतियोगिता परीक्षा होती थी। जो उसमें प्रथम आ जाय, उसी को यह छात्रवृत्ति मिलती थी। बिना किसी को कुछ भी बताये प्रफुल्लचन्द्र इस परीक्षा की तैयारी में जी-जान से जुट गये। उनका परिश्रम सफल रहा। वह परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। उन्हें छात्रवृत्ति मिल गई। १८८२ ई० में वह इंगलैंड के लिये रवाना हो गये।

इंगलैंड जाकर एडिनबरा विश्वविद्यालय में उन्होने छः वर्ष तक विज्ञान का अध्ययन किया। इस अवधि में उन्होंने कठोर परिश्रम किया। उनका सारा समय पढ़ने और परीक्षण करने में ही बीतता था। अपनी योग्यता के कारण उन्हें 'होप छात्रवृत्ति' भी प्राप्त हो गई। १८८५ ई० में उन्होंने बी० एस-सी० की परीक्षा पास कर ली। उसके तीन वर्ष बाद 'डाक्टर आफ़ साइंस' की उपाधि प्राप्त करके वह भारत लौट आये।

साहित्य-सृजन—

प्रायः वैज्ञानिक लोग साहित्य से दूर रहते हैं, और नीरस व्यक्ति समझे जाते हैं; किन्तु प्रफुल्लचन्द्र राय का साहित्य के प्रति भी प्रेम कम नहीं था। एडिनबरा में रहते हुए उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी—'विद्रोह के पूर्व और पश्चात् का भारत'। इस पुस्तक का विद्वानों में बड़ा आदर हुआ। इस सम्बन्ध में इससे पहले ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी।

भारत लौट आने पर डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय को तुरन्त नौकरी

नहीं मिल गई। एक बर्ष तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। उसके बाद १८८९ ई० में वह कलकत्ता के प्रैसीडेंसी कालिज में रसायन-शास्त्र के सहायक-प्रोफेसर नियुक्त हो गये। कुछ ही समय के बाद वह प्रोफेसर बना दिये गये; पर उन्हें गोरे प्रोफेसर को मिलने वाला वेतन नहीं दिया गया। यह एक विचित्र संयोग था कि भारत के दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय एक समय एक ही कालेज में अध्यापन कार्य कर रहे थे। वे दोनों अपने इन पदों पर लगभग २५ वर्ष तक कार्य करते रहे।

अनुसन्धान में जुट गये—

रसायन-शास्त्र पढ़ाने का काम डाक्टर राय की रुचि के पूर्णतया अनुकूल था। एक बार प्रोफेसर बन जाने के बाद वह रसायन-शास्त्र सम्बन्धी खोजों में जी-जान से जुट गये। उनके छात्र उनसे अत्यन्त सन्तुष्ट थे और उनका आदर करते थे। उनके पास पढ़ते हुए छात्रों में विज्ञान के प्रति खूब अनुराग उत्पन्न हो जाता था। डाक्टर राय ने अपने कालेज में तो एक उत्कृष्ट प्रयोगशाला बनाई ही थी, उन्होंने अपने घर पर भी एक अच्छी प्रयोगशाला बना ली थी। इससे उनका अनुसन्धान कार्य बिना रुके चलता रहता था।

सादा और नियमित जीवन—

इतना सब करते हुए भी डाक्टर राय का अपना जीवन अत्यन्त सादा और तपस्यामय था। वह प्राचीन काल के ऋषियों की भाँति रहते थे। विवाह उन्होंने किया नहीं था। उन्हें तड़क-भड़क और प्रदर्शन पसन्द नहीं था। वह सदा खद्दर के सादे वस्त्र पहनते थे।

उनका अपना रहने का कमरा ही उनका पुस्तकालय था और साथ ही प्रयोगशाला भी। इस कमरे की दीवारों के साथ-साथ तीन ओर अलमारियाँ लगी हुई थीं, जिनमें डाक्टर राय की पुस्तकें भरी हुई थीं। चौथी ओर की दीवार के साथ-साथ मेजें और तख्ते लगे हुए थे, जिन पर वैज्ञानिक

परीक्षणों की सामग्री, कुप्पियाँ, शीशे के गिलास और नलियां इत्यादि रहती थीं। एक कोने में एक चारपाई पर उनका बिस्तर बिछा रहता था। एक ट्रंक में उनके पहनने के कपड़े थे। दूसरे कोने में पानी का एक घड़ा रखा रहता था। उन्होंने अपनी जीवन की आवश्यकताएं घटा कर इतनी कम कर ली थीं कि उन्हें अन्य किसी सामान की ज़रूरत ही न होती थी।

प्रातःकाल चार बजे उठकर वह भ्रमण के लिये निकल जाते थे। सारे दिन भर अध्ययन, परीक्षण और विचार करते रहने के पश्चात् जब वह रात को दस बजे, अपने बिस्तर पर लेटते थे, तब दिन भर की थकन से वह चूर हो चुके होते थे। गांधी जी के विचारों के समर्थक होने के कारण आप नियमपूर्वक चरखा भी कातते थे। एक इतने बड़े वैज्ञानिक का नियम से चरखा कातना भी लोगों के लिये बड़े आश्चर्य की बात थी। परन्तु डाक्टर राय चरखे को और चरखा कातने के सिद्धान्त को देश के लिये उपयोगी समझते थे।

प्रथम सफलता—

धीरे-धीरे उनके इस तपस्यामय जीवन का फल सामने आने लगा। रसायन-शास्त्र के सम्बन्ध में आप नये-नये परीक्षण करते रहते थे। इन परीक्षणों को करते हुए आपको पारद और नत्रिकाम्ल मिलाकर 'पारद नाइट्राइट' बनाने में सफलता मिली। 'पारद नाइट्राइट' बनाने के लिये पारद और नत्रिकाम्ल को एक विशेष विधि से मिलाना पड़ता है। पश्चिमी देशों के वैज्ञानिकों को बारम्बार प्रयत्न करने पर भी इस विधि को खोज निकालने में सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। इसलिये जब सबसे पहले डाक्टर राय ने 'पारद नाइट्राइट' के निर्माण की विधि खोज निकाली, तो उनका नाम तुरन्त उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में गिना जाने लगा। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने उन्हें इस सफलता पर बधाई दी। डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय 'नाइट्राइटों के निर्माता' के रूप में विख्यात हो गये। उन्होंने और भी अनेक धातुओं के नाइट्राइट बनाने के सम्बन्ध

उस स्थानके आसपास जो सैनिक थे उनसे उसने कहला भेजा कि आप लोग आकर मेरे पक्षमें मिल जाइये, किन्तु उसने देखा कि वे सब धड़ाधड़ ब्रूटसकी ओर चले जा रहे हैं और जब उसे यह शंका होने लगी कि खास अपोलोनियाके सैनिक भी उसी तरफ झुक रहे हैं, तब वह उक्त नगर छोड़कर बुथ्रोटम चला आया। इसके पहले उसके तीन सैन्य दलों-को ब्रूटसने रास्तेमें ही काट डाला था। कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानोंको लेनेकी व्यर्थ चेष्टा करनेके बाद उसे एक युद्धमें नवयुवक सिसरोके हाथ पराजित होना पड़ा। ब्रूटसने युद्ध-सञ्चालनका भार इसीके सिपुर्द कर दिया था और समय समय पर इससे वह बहुत काम निकालता था। केयस स्वयं अपने अनुयायियोंसे कुछ दूर एक आर्द्रभूमिमें ब्रूटसके आदमियों द्वारा घिर गया। उसे इस प्रकार अपने अधिकारमें देखकर उसने अपने सैनि-कोंको आक्रमण करनेसे रोक दिया। उसने उन्हें आज्ञा दे दी कि शत्रुके एक भी आदमीकी जान न जाने पावे, क्योंकि थोड़ी देर बाद ही तो ये लोग हमारे पक्षमें आ मिलेंगे। हुआ भी ऐसा ही। शत्रुके सैनिकोंने अपने सेनापति सहित आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार अब ब्रूटसके पास बहुत बड़ी सेना इकट्ठी हो गयी। वह चिरकालतक केयसका समादर करता रहा। उसने उसे अपने पदके अनुरूप चिह्न धारण करनेकी इजाज़त दे दी थी, यद्यपि रोमसे कई मित्रोंने, विशेषकर सिसरोने, उसे यही सलाह दी थी कि केयसको प्राणदण्ड दिया जाय। जब ब्रूटसने देखा कि वह सेनाके कर्मचारियोंको बहका रहा है और सेनामें बलवा कराना चाहता है, तब उसने उसे एक जहाजपर क़ैद कर दिया। केयस-ने जिन सैनिकोंको बहका दिया था वे अपोलोनियाको लौट गये। उनके एक संदेशेके उत्तरमें ब्रूटसने कहा कि रोममें ऐसी प्रथा है कि जो लोग अपराध करते हैं, वे स्वयं अपने सेनापतिके पास आकर क्षमा याचना करते हैं। उन्होंने ऐसा ही किया और ब्रूटसने उन्हें क्षमा भी कर दिया।

जब ब्रूटस एशियामें प्रवेश करने जा रहा था, तब उसे रोममें इस

समय जो परिवर्त्तन हो रहा था उसकी खबर मिली। वहाँ नवयुवक सीज़र, ऐण्टोनीके विरुद्ध सिनेट-सभाकी सहायता पाकर और उसे इटलीके बाहर खदेड़ कर, स्वयं बहुत शक्तिशाली हो रहा था। वह क़ानूनके खिलाफ़ कौन्सलका पद प्राप्त करना चाहता था और एक बहुत बड़ी सेना रखे हुए था जिसकी प्रजातन्त्रको कोई आवश्यकता नहीं थी। जब उसने देखा कि मेरे कार्योंसे असन्तुष्ट होकर सिनेट-सभाके सदस्य देशके बाहर गये हुए ब्रूटसकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देख रहे हैं और उन्होंने कई प्रान्तोंका शासनाधिकार भी उसे देनेका निश्चय किया है, तब वह चौकन्ना हो गया। उसने अपने आदमी भेज कर ऐण्टोनीसे कहलाया, "मैं चाहता हूँ कि हम लोगोंमें परस्पर समझौता हो जाय और हम लोग एक दूसरेके मित्र बन जायँ।" इसके बाद शहरके चारों ओर अपनी सेना खड़ी कर उसने अपनेको कौन्सलके पदके लिए निर्वाचित करा लिया, यद्यपि, जैसा कि उसने स्वयं अपने जीवन-वृत्तान्तमें लिखा है, इस समय उसकी उम्र बीस वर्षकी भी नहीं थी। कौन्सलके पदपर आरूढ़ होते ही उसने ब्रूटस तथा उसके साथियोंपर ऐसे आदमी (सीज़र) की हत्या करनेका मुकदमा चलाया जो नगरका एक प्रधान व्यक्ति था, जो रोमके सर्वोच्च न्यायाधीशके पदपर कार्य कर चुका था और जिसे अपनी सफाई देनेका कोई भी मौक़ा नहीं दिया गया था। अभियुक्तोंकी ओरसे पैरवी करनेके लिए कोई भी खड़ा नहीं हुआ, अतः न्यायकर्त्ताओंको विवश होकर उनके विरुद्ध फैसला करना पड़ा और उन्हें अपराधी करार देना पड़ा। इसके बाद सीज़र, ऐण्टोनी, और लेपिडसमें परस्पर समझौता हो गया। उन्होंने सारे प्रान्त आपसमें बाँट लिये और उन व्यक्तियोंकी एक सूची तैयार की जो वध किये जानेके योग्य समझे गये। इनकी संख्या दो सौ थी। इनमें सिसरोका भी नाम था जिसका वध कर दिया गया।

ब्रूटस उस समय मकदूनियामें था। जब उसे सिसरोके मारे जानेकी खबर मिली, तब उसने लाचार होकर हार्टेनसियसके पास आदमी

भेजकर यह आज्ञा दी कि मेरे मित्र सिसरो तथा मेरे सम्बन्धी ब्रूटस, जिसका नाम भी उक्त सूचीमें था, की हत्याओंके बदले तुम भी केयस ऐण्टोनियसका वध करवा डालो। यही कारण था कि जब फिलिपीके युद्धमें ऐण्टोनीने हार्टेनसियसको गिरफ्तार कर लिया, तब उसने अपने भाईकी कब्रपर ही उसे (हार्टेनसियसको) मरवा डाला था। ब्रूटसने सिसरोकी मृत्युके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, उससे मालूम होता है कि इसका उसे उतना दुःख नहीं था जितना वह इसके कारण लज्जित था। वह कहता है कि मैं रोममें स्थित अपने मित्रोंको दोष दिये बिना नहीं रह सकता। वे लोग अपनी ही करनीके कारण गुलाम बने हुए हैं। जो लोग इस समय उनपर निरंकुशतापूर्वक शासन कर रहे हैं, उनका इसमें विशेष दोष नहीं है। वे लोग वहाँ उपस्थित थे और खड़े खड़े उन घटनाओंका होना देख रहे थे जिनका वर्णन सुनना भी उनके लिए असह्य होना चाहिये था।

एशियामें अपनी बड़ी भारी सेनाका प्रवेश कराकर ब्रूटसने बाइथीनिया और सिज़ीकसके आसपास एक बेड़ा तैयार करनेकी आज्ञा दी। वह स्वयं स्थल-मार्गसे गया। जिन जिन नगरोंसे होकर वह निकलता था, उन्हें अपनी ओर मिलानेका प्रयत्न बराबर करता जाता था और वहाँके राजाओंसे भी मिलता जाता था। उसने सीरियामें स्थित कैसियसके पास यह आदेश भेजा कि तुम फौरन यहाँ चले आओ और मिस्रमें यात्रा करनेका विचार छोड़ दो, क्योंकि यह तो तुम जानते ही हो कि हम लोग स्वयं अपने लिए कोई साम्राज्य स्थापित नहीं करना चाहते, वरन् अपने देशको स्वतंत्र बनानेके उद्देश्यसे ही देश-देशान्तरोंका परिभ्रमण कर रहे हैं और उसी निमित्त हमने एक सेना भी जुटा ली है जिसकी सहायतासे हमें अपने देशके स्वेच्छाचारी शासकोंका विनाश करना है; अतः यदि हम अपने प्रधान उद्देश्यको ध्यानमें रखें तो हमें इटलीसे बहुत दूर नहीं जाना चाहिये, प्रत्युत शीघ्रातिशीघ्र वहाँ पहुँच कर अपने देशभाइयोंको उनके अत्याचारोंसे बचाना चाहिये।

इस आदेशको मानकर कैसियस लौट पड़ा। ब्रूटस उससे मिलनेके लिए गया। स्मरनामें दोनोंकी भेंट हुई। इतने दिनोंके बाद एक दूसरेको देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। अब उन्हें अपनी सफलताका भी विश्वास हो गया, क्योंकि कहाँ तो वे लोग कोई घोर अपराध करनेके कारण निष्कासित व्यक्तियोंकी तरह इटलीसे भागे थे—न तो उनके पास पैसा था, न अस्त्र शस्त्र, और न साथमें कोई सैनिक था, न कोई जहाज ही—और कहाँ वे इतने थोड़े समयके भीतर ही इतने जहाज और इतना रुपया-पैसा तथा पैदल और घुड़सवार सेना एकत्र कर एक दूसरेसे मिल सके कि यदि वे चाहते तो रोम-साम्राज्य हस्तगत करनेका भी प्रयत्न कर सकते थे।

कैसियस ब्रूटसकी वैसी ही इज़्ज़त करना चाहता था जैसी ब्रूटस उसकी करता था, किन्तु इस सम्बन्धमें प्रायः ब्रूटस ही आगे बढ़ जाता था। जब कभी ज़रूरत पड़ती थी, तब प्रायः ब्रूटस ही कैसियसके निवास-स्थान पर जाता था, क्योंकि एक तो कैसियस उम्रमें उससे बड़ा था, दूसरे वह ब्रूटससे ज़्यादा कमज़ोर भी था। सर्वसाधारण कैसियसको बहुत कुशल योद्धा समझते थे, किन्तु उनका ख़्याल था कि वह कठोर एवं क्रोधी स्वभावका है और उसे प्रेमकी अपेक्षा भयसे शासन करना ज्यादा पसन्द है, यद्यपि अपने परिचित व्यक्तियोंके साथ वह बराबर हँसी-मज़ाक किया करता था। किन्तु ब्रूटस अपने सच्चरित्रके कारण ही सर्व-साधारणकी प्रशंसा एवं सम्मानका पात्र बन गया था। उसके मित्र भी इसी कारणसे उसपर विशेष स्नेह करते थे और बड़े बड़े आदमी उसकी प्रशंसा किया करते थे, यहाँतक कि शत्रु भी उससे घृणा नहीं करते थे। उसका स्वभाव बहुत ही अच्छा था, वह बड़े उदार हृदयका आदमी था और क्रोध, सुखवासना तथा लोभसे तो दूर ही रहता था। वह न्याय एवं औचित्यके पक्षसे कभी नहीं हटता था। उसकी प्रसिद्धि तथा लोक-प्रियताका एक बड़ा कारण यह था कि लोगोंको उसके उद्देश्योंमें पूर्ण

विश्वास था। लोग यह जानते थे कि पाम्पेके सदृश महान् व्यक्ति भी सीज़र पर विजय पानेके बाद सर्वथा क़ानूनके अनुसार शासन करनेके लिए तैयार न होता, वह भी राज्यका प्रबन्ध अपने हाथमें ले लेता और खुल्लम-खुल्ला राजाकी पदवी ग्रहण न करते हुए भी वस्तुतः कौंसल या सर्व-प्रधान नेता या और किसी पदकी आड़में राजा बननेकी ही कोशिश करता। जनताकी धारणा थी कि कैसियसने, जो स्वभावतः क्रोधी एवं लोभी था और जो अपने स्वार्थके कारण प्रायः न्यायकी सीमाका भी अतिक्रमण कर बैठता था, यात्रा औ युद्धकी कठिनाइयों तथा जोखिमोंका सामना केवल अपने लए राज्य प्राप्त करनेकी इच्छासे ही किया है, सर्वसाधारणको स्वतंत्र बनाना उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। इसके पहले भी सिन्ना, मेरियस, कार्बो इत्यादि जिन व्यक्तियोंने रोमकी शान्ति भंग की थी, उनका ध्यान भी देशका शासन-सूत्र अपने हाथमें कर लेनेकी ओर ही था और उन्होंने बहुत कुछ स्पष्ट भाषामें यह स्वीकार कर लिया था कि वे लोग साम्राज्य प्राप्तिकी आकांक्षासे ही लड़ाइयाँ लड़ते थे। किन्तु कहते हैं कि शत्रुओं तकने ब्रूटसपर कभी इस तरहका दोषारोपण नहीं किया। बहुतोंने तो स्वयं ऐण्टोनी तकको यह कहते सुना था कि एक ब्रूटस ही ऐसा आदमी है जिसने केवल इसी ख़्यालसे सीज़रके खिलाफ साजिशमें भाग लिया था कि ऐसा करना देश-हितकी दृष्टिसे आवश्यक एवं न्यायोचित था, किन्तु और सब लोग तो केवल ईर्ष्या या द्वेषके कारण ही उसके विरोधी बन गये थे। ब्रूटसने स्वयं जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट है कि उसे अपनी सैनिक शक्तिका उतना भरोसा नहीं था जितना अपने चरित्र और शीलका था। शत्रुसे युद्ध ठाननेके ठीक पहले उसने ऐटिकसके नाम एक पत्र भेजा था, जिसका आशय यह था—"मेरे तो दोनों हाथमें लड्डू हैं। या तो मैं विजय प्राप्त कर रोम निवासियोंको पुनः स्वतंत्र बना सकूँगा, या प्राण त्याग कर स्वयं गुलामीके क्षेत्रसे बहुत दूर हट जाऊँगा।" आगे चलकर वह लिखता है "मार्क ऐण्टोनीको अपनी

मूर्खताके कारण जो दण्ड मिला वह सर्वथा उचित था क्योंकि उसने ब्रूटस, कैसियस तथा केटोका साथ न देकर आक्टेवियसका साथ दिया।"

जिस समय वे स्मरनामें थे तभी ब्रूटसने कैसियस द्वारा संगृहीत कोशका अपना हिस्सा माँगा क्योंकि उसने अपना सारा धन समुद्रपर अधिकार बनाये रखनेके निमित्त जहाजी बेड़ा तैयार करनेमें खर्च कर दिया था; पर कैसियसके मित्रोंने उसे ऐसा करनेसे मना करते हुए कहा कि जिस धनको तुमने किफायतसारीके साथ रह कर जमा किया है, क्या उसे तुम ब्रूटसको इसलिए देना चाहते हो कि उसे वह सैनिकोंमें वितरण कर लोकप्रियता सम्पादित करे? फिर भी कैसियसने सारी रक़मका तृतीयांश ब्रूटसको दे दिया। इसके अनन्तर वे पृथक् होकर अपने अपने प्रान्तोंको चले गये। कैसियस रोड्स प्रान्तपर अधिकार कर लेनेपर बड़ी सख्तीसे पेश आया हालाँ कि नगरमें प्रवेश करनेके समय लोगोंके 'प्रभु' तथा 'नरेश' कहकर सम्बोधन करने पर उसने उत्तरमें कहा था—"मैं न तो प्रभु हूँ और न नरेश, बल्कि मैं तो इन दोनोंका अन्त करनेवाला हूँ।" ब्रूटसने लिसियनोंसे धन और जनकी माँग पेश की पर उनके लोकप्रिय नेता लॉक्रेटीजने ब्रूटसका विरोध करनेकी सलाह दी और वे उसके मार्गमें बाधा डालनेके विचारसे कई पहाड़ियोंपर जमकर बैठ गये। ब्रूटसने कुछ अश्वारोहियोंको उनकी ओर भेज दिया। इन्होंने भोजन करते समय ही उनपर एकाएक आक्रमण कर दिया जिससे उनके छः सौ सैनिक खेत रहे। उनके कई छोटे नगर तथा ग्राम अधिकृत कर लेनेके उपरान्त क्षतिपूर्ति कराये बिना ही उसने रणबन्दियोंको छोड़ दिया। उसे यह आशा थी कि मैं सद्भाव द्वारा सबको वशवर्ती बना लूँगा। पर वे लोग ज्योंके त्यों तने रहे और उसकी नेकी तथा मानवोचित बर्तावके प्रति घृणा प्रकट करने लगे। अन्तमें अपने सर्वाधिक यौद्धिक प्रवृत्तिवालोंको जंथस नगरमें आश्रय लेनेपर बाध्य कर घेरा डाल दिया। उन्होंने नगरके पाससे बहनेवाली नदीमें डुबकी मारकर और तैरकर भागनेका भी प्रयत्न किया,

पर वे जालमें गिरफ्तार हो जाते थे जो इसी मतलबसे फैला दिया गया था। जालके सिरेपर घंटियाँ बाँध दी गयी थीं जिसमें इस प्रकारका प्रयत्न करनेवालोंकी शीघ्र खबर लग जाय। इसके अनन्तर उन्होंने रातको आक्रमण कर कई अवरोध-यंत्रोंमें आग लगा दी पर रोमनोंने उन्हें पुनः पीछे हटा दिया। उसी समय इतनी तेज हवा चली कि यंत्रोंकी लपट प्राचीरतक पहुँचने लगी जिससे कई मकानोंमें आग लग गयी। सारे नगरके भस्मीभूत हो जानेकी आशंकासे ब्रूटसने अपने सैनिकोंको आग बुझानेमें मदद पहुँचानेकी आज्ञा दी।

लिसियनोंके दिमागमें इस समय एक ऐसा विचित्र खयाल पैदा हुआ जिससे यही समझा जायगा कि वे सबके सब मरनेपर तुले हुए थे। बालक-वृद्ध, दास-मुक्त, स्त्री-पुरुष सभी अवस्था तथा परिस्थितिके लोग उन रोमनोंको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगे जो आग बुझानेके लिए बाहरसे भीतर चले आये थे और घासपात तथा लकड़ी आदि सभी प्रकारकी जलनेवाली चीजें इकट्ठी कर सारे नगरमें आग फैलाने लगे। बातकी बातमें अग्नि भयंकर लपटके साथ सारे नगरको आत्मसात् करने लगी। यह भयंकर दृश्य देखकर ब्रूटसने घोड़ेपर सवार हो घूम घूमकर उनसे नगरकी रक्षाके लिए प्रार्थना की पर उन्होंने इसपर ज़रा भी ध्यान न देकर अपना अन्त करनेका ही प्रयत्न जारी रखा। वयस्क स्त्री-पुरुषोंने ही नहीं बल्कि बालकोंने भी, अग्निमें या शस्त्रों आदिपर कूद कर अपने प्राण दे दिये। नगरके भस्मीभूत हो जाने पर एक औरत मिली जिसने फाँसी लगाकर जान दे दी थी। उसका बच्चा उसके गलेमें बँधा हुआ था और हाथमें मशाल थी जिससे उसने अपने घरमें आग लगायी थी। इस दृश्यका वर्णन सुनकर ब्रूटस रो पड़ा। उसने जंथियनोंको बचानेवाले सैनिकोंको पारितोषिक देनेकी घोषणा कर दी। कहा जाता है कि सिर्फ डेढ सौ जंथियन बचाये जा सके और सो भी इच्छाके विरुद्ध। मालूम होता है दैवने उनके नाशका कोई समय बाँध रखा था क्योंकि उनके पूर्वजोंने भी एक बार फारसवालों

के साथ युद्ध होने पर इसी प्रकार नगर भस्म कर अपना अन्त कर दिया था।

पटेरियन लोगोंको सामना करनेके लिए प्रस्तुत देखकर घेरा डालनेमें ब्रूटसको इस बातकी आशंका हुई कि कहीं ये लोग भी जंथियनोंका अनु· करण न करें। उसने कुछ बन्दी महिलाओंको दंड दिये बिना ही मुक्त कर दिया। उन्होंने जाकर अपने पति तथा पुत्रों आदिसे जो उच्च श्रेणीके नागरिक थे कहा कि ब्रूटस बड़ा भलामानस और न्यायी है, आप लोग नगर उसको समर्पित कर दें। इसके अनन्तर आसपासके सभी नगरोंने आत्मसमर्पण कर दिया और ब्रूटसमें इतनी दयालुता एवं सज्जनताकी मात्रा देख पड़ी जितनीकी उन्हें आशा भी न थी। कैसियसने रोड्स वालोंसे उनकी व्यक्तिगत रूपसे जमा की हुई रकमें लेकर आठ हजार टैलेंट एकत्र किया और ऊपरसे जनतापर पाँच हजार टैलेंटका और दंड लगाया पर ब्रूटसने लिसियनोंसे मुश्किलसे डेढ सौ टैलेंट लिया, उन्हें और किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचायी। इसके अनन्तर वह आयोनियाकी तरफ चला गया।

सारी युद्ध-यात्रामें ब्रूटसने कई अवसरोंपर पुरस्कार तथा दंड देनेमें अपनी न्यायनिष्ठाका परिचय दिया। इस स्थलपर मैं केवल एक कार्यका उल्लेख करूँगा क्योंकि इससे स्वयं ब्रूटस तथा सभी नेक रोमन सन्तुष्ट थे। सीज़रसे पराभूत होने पर पॉम्पीने मिस्र-नरेशसे आश्रयके लिए प्रार्थना की थी। मंत्रियोंमें किसीने स्वागत करनेकी और किसीने आश्रय देनेसे इनकार कर देनेकी राय दी, पर थियोडोटस नामक अलंकार-शास्त्रके शिक्षकने इन दोनों बातोंको काटकर उसे मार डालनेकी राय दी।* सीज़रके मिस्र पहुँचने पर कुछ हत्यारोंको प्राणदंड दिया गया पर थियो-डोटस वहाँसे भाग निकला और किसी प्रकार लुक छिप कर कालयापन करने लगा, निदान एशियाकी यात्रामें ब्रूटसने उसे पकड़ कर मार डाला।

---

* देखिए पाम्पी, पृष्ठ २५२

इसी समयके लगभग ब्रूटसने कैसियसको सार्डिसमें मिलनेके लिए बुलाया और बहुतसे मित्रोंको लेकर उसकी अगवानी की। पंक्तिबद्ध सारी सेनाने दोनोंको "विजयी शासक" (इम्परेटर) कह कर अभिवादन किया। जिस महत्वपूर्ण कार्यमें बड़े बड़े लोग लगे हों, उसमें परस्पर कुछ न कुछ वादविवादका उठ जाना स्वाभाविक ही है। कैसियस और ब्रूटसमें परस्पर कुछ आरोप हुए, इसलिये उन्होंने इस विषयपर विचार करनेके निमित्त एक कमरेमें जाकर द्वार बन्द कर लिया। तर्क-वितर्कसे आरम्भ कर दोनों गर्मागर्मीके साथ आपसमें झगड़ने लगे और अन्तमें फूट फूटकर रोने भी लगे। उनके जो मित्र बाहर खड़े थे, उन्हें इस प्रकारकी आवाज सुनकर कुछ गड़बड़की आशङ्का हुई, पर आज्ञा न होनेके कारण किसीको भीतर प्रवेश करनेका साहस न हुआ। फिर भी मार्कस फेवोनियस नामक एक व्यक्ति, जो बात करनेमें बहुत उच्छृंखल था और अण्डबण्ड बोलनेमें ही अपना बड़प्पन समझता था, प्रहरियोंको धक्का देकर भीतर घुस गया और उसने होमरकी यह पंक्ति गम्भीरतापूर्वक कही—'मैं हूँ वयोवृद्ध दोनोंसे, कर लो मम शासन स्वीकार।" इसपर कैसियस तो हँस पड़ा पर ब्रूटसने अपशब्द कहते हुए उसे बाहर ढकेल दिया।

इससे सम्प्रति उन लोगोंका आपसका झगड़ना बन्द हो गया और वे पृथक् हो गये। सायंकाल कैसियसने एक भोज दिया जिसमें ब्रूटसने अपने मित्रोंको आमंत्रित किया। जब सब लोग बैठ गये तो फेवोनियस भी आ धमका। अनाहूत होनेके कारण ब्रूटसने उसे दस्तरख्वानके एक ओर बैठनेको कहा, फिर भी वह आकर बीचमें ही जम गया।

दूसरे दिन ल्यूशियस पेला नामक एक भूतपूर्व उपशासक (प्रीटर) पर सार्डियनोंने सार्वजनिक रकम हड़प जानेका दोषारोप किया। ब्रूटसने उसे अपमानित और दण्डित भी किया। यह देखकर कैसियस जल भुन कर खाक हो गया क्योंकि कुछ काल पहले उसने उसी प्रकारके आरोपमें दो व्यक्तियोंको आमतौरसे मुक्त कर अकेलेमें कुछ कह देना ही काफी समझा

और उन्हें अपने पदपर रहने दिया था । कैसियसने ब्रूटसपर ऐसे समयमें जब कि नरमी दिखलानेकी आवश्यकता थी, विधानका कठोरताके साथ पालन करनेका आक्षेप भी किया । इसपर ब्रूटसने सीज़रकी हत्याके दिनकी याद दिलाते हुए कहा "सीज़र स्वयं लूटमार नहीं करता था, वह लूटमार करनेवालोंका समर्थक था; यदि न्यायकी तरफसे आँख बन्द कर लेना ही अभिप्रेत था तो अपने अनाचारोंको अबाधित रूपसे चलने देनेकी अपेक्षा सीज़रके मित्रोंका अत्याचार सहन कर लेना अधिक अच्छा था, क्योंकि उस हालतमें हम लोग सिर्फ कायर समझे जाते, पर अब तो हम अन्यायी ही समझे जायँगे ।" इन बातसे ब्रूटसके सिद्धान्तोंका भलीभाँति परिचय मिल जाता है ।

एशियासे प्रस्थान करनेके समय उसने एक विचित्र छाया-मूर्ति देखी । वह अल्पाहार कर बराबर काममें जुटा रहता था । दिनको तो कभी सोता ही न था, रातको भी कार्य समाप्त किये बिना सोनेका नाम नहीं लेता था । इस समय, युद्धमें प्रवृत्त होनेके कारण, वह रात्रिके भोजनके बाद एक नींद ले चुकने पर युद्ध सम्बन्धी अत्यावश्यक कार्योंकी व्यवस्थामें तीसरे पहरके समयतक, जब कि जनशासक आदि आदेशके लिए आते थे, लगा रहता था । एशियासे जानेके एक रात पहले वह रातमें देर तक अपने खेमेमें अकेले जागता रहा । एक दीपक मन्द प्रकाशसे जल रहा था, सभी सैनिक निद्राकी गोदमें विश्राम कर रहे थे, चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी और वह किसी विषयके सम्बन्धमें गम्भीरताके साथ कुछ सोच रहा था, तबतक खेमेमें किसीके प्रवेश करनेका उसे भान हुआ । द्वारकी ओर दृष्टिपात करने पर उसने पासमें एक भीमाकार भयङ्कर आकृति देखी । उसने निर्भीकतासे पूछा "तुम मनुष्य हो या देव ? मेरे पास किस लिये आये हो?" उस आकृतिने उत्तर दिया "ब्रूटस, मैं तुम्हारा दुर्भाग्य हूँ, मैं तुमसे फिलिपीमें मिलूँगा ।" ब्रूटसने ज़रा भी विचलित न होकर कहा "अच्छा, तुमसे वहीं मिलूँगा ।"

आकृतिके अन्तर्धान होनेपर ब्रूटसने नौकरोंको बुला कर पूछा तो उन्होंने कहा कि हमने न तो कोई आवाज सुनी है और न किसीको देखा ही है। प्रातःकाल होने पर उसने कैसियससे भी इसकी चर्चा की। कैसियसने, जो एपिक्यूरसके सिद्धांतोंका अनुयायी था और इस विषयके सम्बन्धमें ब्रूटसके साथ बराबर बहस किया करता था, उससे कहा—"हमारे सम्प्रदायका मत है कि जो कुछ हम देखते हैं, सब सत्य ही नहीं होता। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी भ्रममें डालनेवाली होती हैं। जो भाव ये ग्रहण करती हैं वे इतने परिवर्तनशील होते हैं और ऐसे रूप धारण कर लेते हैं कि प्रकृतिमें उनका मूल रूप दृष्टि-गोचर ही नहीं होता। मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट भी कुछ ऐसी है कि वह तरह तरहके रूपोंकी कल्पना किया करता है। स्वप्नके दृश्योंसे यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। मस्तिष्ककी गति बराबर जारी रहती है और कल्पना ही वह गति है। शरीरके क्लान्त रहने पर मस्तिष्ककी गति स्थगित या दूसरे मार्गमें प्रवृत्त हो जाती है। सारांश यह कि भूत-प्रेतका अस्तित्व सर्वथा असंभव है; यदि हो भी तो उनका मनुष्यका रूप धारण करना तथा हम लोगोंके कार्योंका संचालन करनेमें समर्थ होना बिलकुल निराधार है। मैं तो चाहता था कि इस प्रकारके भूत-पिशाच होते तो हम लोग बेड़ा तथा सेना प्रस्तुत करनेके झंझटसे बरी हो जाते और उन्हींको खुशकर अपना महत्वपूर्ण कार्य चला लेते।" कैसियसने ब्रूटसको सन्तुष्ट करनेके निमित्त यही दलील पेश की। यात्रा आरंभ करते समय दो उकाब प्रथम दो झंडों पर आकर बैठ गये। सैनिक उनको बराबर खिझाते रहे; वे उनके साथ साथ फिलिपीतक गये, पर युद्ध आरंभ होनेके एक दिन पूर्व ही उड़ गये।

ब्रूटस इस प्रदेशमें अधिकांश स्थानों तथा जातियोंका पहले ही दमन कर चुका था, फिर भी उसने समुद्रके किनारे किनारे इस विचारसे दौरा किया जिसमें कोई सिर उठानेवाला हो तो उसका दमन कर दिया जाय। इस समय सिम्बोलमके पास नारबेनस अपना शिविर डाले हुए था। इन

लोगोंने उसे इस प्रकार घेरा कि उसे अपनी सारी सेना नष्ट कर किसी प्रकार जान लेकर भागना पड़ा। सीज़र अस्वस्थताके कारण बहुत पीछे रह गया था। ऐण्टोनी इतनी फुर्तीसे नारबेनसकी रक्षाके लिए पहुँचा कि ब्रूटसको उसके वहाँ आनेका विश्वास ही नहीं होता था। दस दिन बाद सीज़र वहाँ पहुँचा। उसने ब्रूटसके सामने तथा ऐण्टोनीने कैसियसके सामने अपने डेरे डाल दिये।

दोनों सेनाओंके मध्यमें जो फासला था वह रोमनोंमें कैम्पी फिलिपी नामसे प्रसिद्ध है। इतनी बड़ी रोमन सेनाएँ परस्पर युद्धके लिए कभी प्रस्तुत नहीं हुई थीं। संख्यामें ब्रूटसकी सेना सीज़रकी सेनाकी अपेक्षा कम थी पर साज-सामानमें यह उससे कहीं बढ़ी हुई थी। ब्रूटसने सैनिकोंमें इतना धन वितरण किया था कि उनके हथियार सुवर्ण और रजतके बने हुए थे। उसने और सब बातोंमें अपने सेनानायकोंको किफायत करनेका आदेश दे रखा था पर इस सम्बन्धमें उसका यह खयाल था कि इस प्रकारकी सम्पत्ति यशःकामी सैनिकोंके जोशको बढ़ायेगी और जो लोग धनके लोभी होंगे वे इन कीमती हथियारोंको अपनी प्रधान सम्पत्ति समझते हुए बचाये रखनेके निमित्त युद्धमें अधिक वीरता दिखलायँगे।

सीज़रने सेनामें शुद्धि-यज्ञ किया और सैनिकोंको बलिप्रदानके निमित्त पाँच पाँच ड्रैकमा और कुछ गल्ला बाँटा। ब्रूटसने सीज़रको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे मैदानमें सार्वजनिक यज्ञ किया और बलिप्रदानके निमित्त पशु वितरण करनेके अलावा प्रत्येक सैनिकको पचास ड्रैकमा दिया। सैनिक उसे बहुत मानते और उसके लिए रक्त बहानेको बराबर तैयार रहते थे। कहा जाता है कि यज्ञके समय कैसियसको एक अपशकुन हुआ। बलिदानके अवसरपर जो पुष्पमाला धारण करनेके लिए उसे दी गयी, उसका ऊपरवाला सिरा नीचे था। यह भी कहा जाता है कि धार्मिक जलूसमें विजय-प्रतिमा ढोनेवाला व्यक्ति फिसल कर गिर पड़ा जिससे प्रतिमा भी ज़मीनपर लुढ़क गयी। पड़ावके ऊपर कितने ही शिकारी पक्षी चक्कर

में महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये। उन्होंने ८० ऐसे नये समास बनाये, जो उस समय तक अज्ञात थे। उन्होंने प्लाटिनम, गन्धक, पारद इत्यादि के संयोग से नये-नये पदार्थ बनाकर उनके गुण-धर्म निश्चित किये। उन्होंने पारद, गन्धक और आयोडीन को मिलाकर एक ऐसा समास तैयार किया, जो प्रकाश में रखने पर तो रंग-हीन दिखाई पड़ता था और अन्धकार में रखने पर रंगीन हो जाता था।

इस प्रकार के अनेक उपयोगी आविष्कारों से यह बात भली भाँति प्रमाणित हो गई कि अन्य विद्याओं की तरह विज्ञान में भी भारतीय अन्य किसी भी देश के वासियों से कम नहीं हैं। इस क्षेत्र में गत दो शताब्दियों में उनके पिछड़े रहने का एकमात्र कारण यह है कि उन्हें इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का अक्सर ही नहीं दिया गया। जब भी भारतीय वैज्ञानिकों को अवसर मिला, तभी उन्होंने अपने आप को श्रेष्ठ प्रमाणित करके दिखा दिया।

यश और आदर की प्राप्ति—

१९०४ ई० में डाक्टर राय बंगाल सरकार की ओर से यूरोप गये। आपकी इस यात्रा में आपका अनेक स्थानों पर सम्मान हुआ। लन्दन की "कैमिकल सोसाइटी" ने आपको अपना 'फैलो' बना लिया। फ्रांस की 'विज्ञान-अकादेमी' ने आपके सम्मान में एक विशेष आयोजन किया। कुछ समय तक यूरोप में रहने के बाद आप फिर भारत वापस लौट आये।

देश-प्रेम की भावना डाक्टर राय के मन में अत्यन्त तीव्र थी। अपने देश के प्राचीन गौरव से प्रेरित होकर उन्होंने 'हिंदू रसायन-शास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक को लिखने में आपने अत्यन्त परिश्रम किया। इस पुस्तक का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इस पुस्तक में डाक्टर राय ने बताया कि ईसा की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में भारत में रसायन-शास्त्र कितनी उन्नत दशा में था। इस पुस्तक से भारत के यश में बड़ी वृद्धि हुई है। साथ ही इस पुस्तक से

यह भी पता चल जाता है कि डाक्टर राय केवल वैज्ञानिक ही नहीं, अपितु कुशल लेखक भी थे। उनकी एक और प्रसिद्ध पुस्तक 'एक बंगाली रसायन-शास्त्री की जीवन-कथा और परीक्षण' है। इस में उन्होंने आत्मकथा लिखी है।

असाधारण त्याग—

१९१६ ई० में डाक्टर राय ने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया। तब सर आशुतोष मुखर्जी ने उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय के साइंस कालेज का संचालक बना दिया। इस पद पर वह लगभग बीस वर्ष तक काम करते रहे। यहाँ उन्होंने केवल पहले पांच वर्ष ही वेतन लिया। उसके बाद वह पन्द्रह वर्ष तक अपना सारा वेतन इस कालेज में वैज्ञानिक उपकरण मंगाने तथा गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिये वापस लौटाते रहे।

१९२० ई० में उन्हें भारतीय विज्ञान कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। १९२४ ई० में उन्होंने 'इंडियन कैमिकल सोसाइटी' की स्थापना की। १९१८ ई० में सरकार ने उन्हें 'नाइट' की उपाधि दे कर सम्मानित किया। संसार के अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें 'डाक्टर आफ़ साइंस' की उपाधियाँ दीं।

वैज्ञानिक और लेखक के अतिरिक्त समाज-सुधारक के रूप में भी डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्याग्रह और स्वदेशी आन्दोलनों में आपने उत्साहपूर्वक भाग लिया। बंगाल में अकाल और बाढ़ की विपत्तियाँ आने पर आप सहायता कार्य में सदा आगे रह कर भाग लेते रहे। पीड़ितों की सेवा भी आपके तपस्वी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी।

१७ जून १९४४ ई० को ८३ वर्ष की आयु में डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय का स्वर्गवास हो गया। उनका यशस्वी जीवन पूर्णतया सफल कहा जा सकता है।